हिन्दी
त्रैमासिक

रामकृष्ण
मिशन
विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – अगस्त – सितम्बर

★ १९७३ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी प्रणवानन्द

वार्षिक ४)

वर्ष ११
अंक ३

एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

—:०:—

१. सारे अनर्थों की जड़ १
२. सरल विश्वास (श्रीरामकृष्ण के चुटकुले) .. २
३. अग्नि-मंत्र (विवेकानन्द के पत्र) .. ४
४. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) .. ११
५. स्वामी स्वरूपानन्द (डा० नरेन्द्र देव वर्मा) .. २४
६. सोवै सुख भरोसे एक राम के (पं० रामकिंकर उपाध्याय) .. ३८
७. गीता प्रवचन–१७ (स्वामी आत्मानन्द) .. ५७
८. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (शरद्चन्द्र पेंढारकर) .. ७५
९. कर्मयोग और वेदान्त का व्यवहार (बालयोगी विष्णु अरोड़ा) .. ८२
१०. अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द (ब्रह्मचारी देवेन्द्र) .. १००
११. धर्मप्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द .. १०८
१२. अथातो धर्मजिज्ञासा १२८

कव्हर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द
(लन्दन में भाषण देते हुए, मई १८९६)

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(२२ वीं तालिका)

८००. श्री पी. सी. लाल जायसवाल, ठेकेदार, कवर्धा
८०१. श्री केदारनाथ गुप्ता, कपड़ा व्यापारी, कवर्धा
८०२. अध्यक्ष, कुर्मी क्षत्रिय छात्रावास, कवर्धा
८०३. प्रधान अध्यापिका, शा०कन्या उ० मा०शा०, कवर्धा
८०४. श्रीमती प्रेमा, देवी, पुराना कटरा, इलाहाबाद
८०५. श्री अशोककुमार चन्द्राकर, बिरकोनी (रायपुर)
८०६. ग्राम पंचायत कार्यालय, बिरकोनी (रायपुर)

सूचना

'विवेक-ज्योति' के निम्नलिखित पिछले अंकों की कुछ ही प्रतियाँ प्राप्य हैं। शेष अंक अब उपलब्ध नहीं हैं। जो इन पिछले अंकों का संग्रह करना चाहते हैं वे एक रुपये की एक प्रति के हिसाब से खरीद सकते हैं।

प्राप्य अंकों की सूची

वर्ष २ का अंक १। वर्ष ४ का अंक ३। वर्ष ७ के अंक १, ३, ४। वर्ष ८ के चारों अंक। वर्ष ९ के अंक १, २, ३। वर्ष १० का अंक ४।

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ११] जुलाई – अगस्त – सितम्बर [अंक ३

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७३ ★ एक प्रति का १)

सारे अनर्थों की जड़

न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः ।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा ।।

--ज्ञानी के लिए अपने स्वरूप के सम्बन्ध में प्रमाद से बढ़कर कोई अनर्थ नहीं है। उससे मोह जन्म लेता है, मोह से अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकार से बन्धन और बन्धन से दुःख पैदा होते हैं।

--विवेकचूड़ामणि, ३२२

सरल विश्वास

किसी गाँव में एक नैष्ठिक ब्राह्मण रहता था। वह अपने कुलदेवता की भक्तिपूर्वक सेवा करता और उन्हें नैवेद्य-भोग अर्पित करता। एक बार उसे किसी आवश्यक कार्य से बाहर जाना पड़ा। उसने जाने के पहले अपने छोटे लड़के को बुलाया और उससे कहा, "देखो, आज कुलदेवता को भोग तुम लगा देना। ध्यान रहे कि उनकी सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि न हो। उन्हें भोग-रागादि से अच्छी तरह सन्तुष्ट करना।" यह कह ब्राह्मण चला गया।

इधर समय में उसके लड़के ने स्नानादि से शुद्ध हो मन्दिर में कुलदेवता की पूजा की और उन्हें नैवेद्य समर्पित किया। पर उसने देखा कि कुलदेवता सिंहासन पर वैसे के वैसे चुपचाप बैठे हुए हैं। न तो वे सिंहासन से उतरकर भोजन करते हैं, न बात ही करते हैं। लड़का बहुत देर तक उनके भोजन करने की प्रतीक्षा करता रहा, पर कुलदेवता न हिले, न डुले। लड़का अत्यन्त भोला था। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि भगवान् सिंहासन से उतरेंगे, उनके लिए फर्श पर जो आसन बिछाया गया है उस पर बैठेंगे और जो नैवेद्य उन्हें अर्पित किया गया है उसे ग्रहण करेंगे। पर जब ऐसा न हुआ तो वह बारम्बार कुलदेवता से प्रार्थना करने लगा, "हे प्रभो! आओ, नीचे आकर बैठो और भोजन ग्रहण करो। देखो, तुमने बहुत

देर कर दी। अब अधिक देर तक मैं यहाँ तुम्हारे लिए बैठा नहीं रह सकता।"

पर कुलदेवता मौन ही रहे। लड़का तब रो पड़ा और रोते रोते बोला, "प्रभो! मेरे पिता तुम्हें भोजन कराने के लिए कह गये। तुम भला नीचे क्यों नहीं उतर रहे हो? तुम क्या मेरे हाथों से भोजन नहीं ग्रहण करोगे? भला क्यों नहीं करोगे?" लड़का आकुल होकर सिसकता रहा। उसके सरल विश्वास को देखकर कुलदेवता पसीज उठे। वे मुस्कराते हुए सिंहासन से उतरे, नैवेद्य की थाल के सामने बैठे और सारा नैवेद्य चट कर गये। लड़का बड़ा प्रसन्न हुआ। भगवान् को पूरी तरह भोजन कराकर वह पूजाघर से बाहर निकला। उसके स्वजनों ने कहा, "तुम्हारी पूजा तो हो गयी न? अच्छा, अब प्रसाद ले आओ।" लड़का बोला, "हाँ, पूजा तो हो गयी, पर आज प्रसाद नहीं है। भगवान् सारा का सारा नैवेद्य चट कर गये, उन्होंने कुछ नहीं छोड़ा।" स्वजन-सम्बन्धी बोल उठे, "यह क्या? यह कैसे सम्भव हो सकता है?" लड़के ने सरलतापूर्वक कहा, "क्यों भला, क्यों नहीं हो सकता? कहा न कि भगवान् ने थाल में जो कुछ था सब साफ कर दिया!" घरवालों को विश्वास न हुआ। वे उठे और पूजाघर में घुसे। वे देखकर अवाक् रह गये कि कुलदेवता ने सचमुच सारा नैवेद्य ग्रहण कर लिया है और थाल में एक कण तक नहीं छोड़ा है!

❀

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

ब्रीजी मेडोज,
मासाचुसेट्स, मेटकाफ
२० अगस्त, १८९३

प्रिय आलासिंगा,

० ० ० कल स्त्री-कारागार की अधीक्षक श्रीमती जान्सन महोदया यहाँ पधारी थीं। यहाँ 'कारागार' नहीं कहते, वरन् 'सुधार-शाला' कहते हैं। मैंने अमेरिका में जो जो बातें देखी हैं, उनमें से यह एक बड़ी आश्चर्यजनक वस्तु है। कैदियों से सहृदय बर्ताव किया जाता है, कैसे उनका चरित्र सुधर जाता है और वे लौटकर फिर कैसे समाज के उपयोगी अंग बनते हैं, ये सब बातें इतनी अद्भुत और सुन्दर हैं कि बिना देखे तुम्हें विश्वास न होगा! यह सब देखकर जब मैंने अपने देश की दशा सोची, तो मेरे प्राण बेचैन हो गये। भारतवर्ष में हम लोग गरीबों और पतितों को क्या समझा करते हैं! उनके लिए न कोई अवसर है, न बचने की राह और न उन्नति के लिए कोई मार्ग ही। भारत के दरिद्रों, पतितों और पापियों का कोई साथी नहीं, कोई सहायता देनेवाला नहीं। वे कितनी ही कोशिश क्यों न करें, उनकी उन्नति का कोई उपाय नहीं। वे दिन पर दिन डूबते जा रहे हैं। क्रूर समाज उन पर जो लगातार चोटें कर रहा है उसका

अनुभव तो वे खूब कर रहे हैं, पर वे जानते नहीं कि चोटें कहाँ से आ रही हैं। वे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। इसका फल गुलामी है। चिन्तनशील लोग पिछले कुछ वर्षों से समाज की यह दुर्दशा समझ रहे हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश, वे हिन्दू धर्म के मत्थे इसका दोष मढ़ रहे हैं। वे सोचते हैं कि जगत् के इस सर्वश्रेष्ठ धर्म का नाश ही समाज की उन्नति का एकमात्र उपाय है। सुनो मित्र! प्रभु की कृपा से मुझे इसका रहस्य मालूम हो गया है। दोष धर्म का नहीं है। इसके विपरीत तुम्हारा धर्म तो तुम्हें यही सिखाता है कि संसार भर के सभी प्राणी तुम्हारी आत्मा के विविध रूप हैं। समाज की इस हीनावस्था का कारण है, इस तत्त्व को व्यावहारिक आचरण में लाने का अभाव, सहानुभूति का अभाव, हृदय का अभाव। भगवान् एक बार फिर तुम्हारे बीच बुद्धरूप में आये और तुम्हें गरीबों, दुःखियों और पापियों के लिए आँसू बहाना और उनसे सहानुभूति करना सिखाया, परन्तु तुमने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। तुम्हारे पुरोहितों ने यह भयानक किस्सा गढ़ा कि भगवान् भ्रान्त मत का प्रचार कर असुरों को मोहित करने आये थे। सच है; पर असुर हैं हमीं लोग, न कि वे, जिन्होंने विश्वास किया। और जिस तरह यहूदी लोग प्रभु ईसा का निषेध कर आज सारी दुनिया में सबके द्वारा सताये और दुत्कारे जाकर भीख माँगते फिरते हैं, उसी तरह तुम लोग भी, जो भी जाति तुम पर राज्य करना चाहती है, उसी के

गुलाम बन रहे हो। हाय अत्याचारियो! तुम जानते नहीं कि अत्याचार और गुलामी मानो एक सिक्के के दो पहलू हैं! गुलाम और अत्याचारी पर्यायवाची हैं।

बालाजी और जी०जी० को उस शाम की बात याद होगी, जब पांडिचेरी में एक पण्डित से समुद्र-यात्रा के विषय पर हमारा वाद-विवाद हुआ था। उसके चेहरे की विकट मुद्रा और उसकी 'कदापि न' मुझे सदैव याद रहेगी! ये नहीं जानते कि भारतवर्ष जगत् का एक अत्यन्त छोटा हिस्सा है, और सारी दुनिया इन तीस करोड़ मनुष्यों को जो केंचुओं की तरह भारत की पवित्र धरती पर रेंग रहे हैं और एक दूसरे पर अत्याचार करने की कोशिश कर रहे हैं, घृणा की दृष्टि से देख रही है। समाज की यह दशा दूर करनी होगी---परन्तु धर्म का नाश करके नहीं, वरन् हिन्दू धर्म के महान् उपदेशों का अनुसरण कर और उसके साथ हिन्दू धर्म के स्वाभाविक विकसितरूप बौद्ध धर्म की अपूर्व सहृदयता को युक्त कर।

लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के अग्नि-मंत्र से दीक्षित होकर, भगवान् के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बन-कर और गरीबों, पतितों तथा पददलितों के प्रति सहानु-भूति से सिंह के समान साहसी बनकर इस सम्पूर्ण भारत देश के एक छोर से दूसरे छोर तक सर्वत्र उद्धार के सन्देश, सेवा के सन्देश, सामाजिक उत्थान के सन्देश और समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे।

पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के

समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और निम्न जातिवालों का गला ऐसी क्रूरता से घोंटता हो। प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है, वरन् दोष उनका है जो ढोंगी और दम्भी हैं, जो 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्रों का निर्माण करते हैं।

हताश न होना। याद रखना कि भगवान् गीता में कह रहे हैं: 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'—'तुम्हारा अधिकार कर्म में है, फल में नहीं।' कमर कस लो, वत्स! प्रभु ने मुझे इसी काम के लिए बुलाया है। जीवनभर मैं अनेक यंत्रणाएँ और कष्ट उठाता आया हूँ। मैंने प्राण-प्रिय आत्मीयों को एक प्रकार से भुखमरी का शिकार होते हुए देखा है। लोगों ने मेरा मजाक उड़ाया है, और ये सब वे ही लोग हैं, जिनसे सहानुभूति करने पर मुझे विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। वत्स! यह संसार दुःख का आगार तो है, पर यही महापुरुषों के लिए शिक्षालयस्वरूप है। इस दुःख से ही सहानुभूति, धैर्य और सर्वोपरि उस अदम्य दृढ़ इच्छा-शक्ति का विकास होता है, जिसके बल से मनुष्य सारे जगत् के चूर चूर हो जाने पर भी रत्ती भर नहीं हिलता। मुझे उन लोगों पर तरस आता है। वे दोषी नहीं हैं। वे बालक हैं, निरे बच्चे हैं—भले ही समाज में गण्यमान्य समझे जायँ। उनकी आँखें कुछ गज के अपने छोटे क्षितिज

के परे कुछ नहीं देखतीं और यह क्षितिज है--उनका नित्य-प्रति का कार्य, खान-पान, अर्थोपार्जन और वंशवृद्धि। ये सब कार्य घड़ी के काँटे पर सधे होते हैं। इसके सिवा उन्हें और कुछ नहीं सूझता। अहा, कैसे सुखी हैं ये बेचारे! उनकी नींद किसी तरह टूटती ही नहीं! सदियों के अत्याचार के फलस्वरूप जो पीड़ा, दुःख, हीनता, दरिद्रता की आह भारत-गगन में गूँज रही है, उससे उनके सुखकर जीवन को कोई जबरदस्त आघात नहीं लगता। युगों के जिस मानसिक, नैतिक और शारीरिक अत्याचार ने ईश्वर के प्रतिमारूपी मनुष्य को भारवाही पशु, भगवती की प्रतिमारूपिणी रमणी को सन्तान पैदा करनेवाली दासी, और जीवन को अभिशाप बना दिया है, उसकी वे कल्पना भी नहीं कर पाते। परन्तु ऐसे भी अनेक मनुष्य हैं, जो देखते हैं, अनुभव करते हैं, और दिलों में खून के आँसू बहाते हैं--जो सोचते हैं कि इनका इलाज है, और किसी भी कीमत पर, यहाँ तक कि अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी इन्हें हटाने को तैयार हैं। और 'ये ही हैं वे लोग, जिनसे स्वर्ग-राज्य बना है।' अतएव मित्रो! क्या यह स्वाभाविक नहीं है कि उच्च स्थान में अवस्थित इन महापुरुषों को उन जघन्य कीड़ों की बकवास सुनने की फुरसत नहीं, जो प्रति-क्षण अपना क्षुद्र विष उगलने के लिए तैयार रहते हैं!

तथाकथित धनिकों पर भरोसा न करो, वे जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं। आशा तुम लोगों से है--जो विनीत, निरभिमानी और विश्वासपरायण हैं। ईश्वर के

प्रति आस्था रखो। किसी चालबाजी की आवश्यकता नहीं; उससे कुछ नहीं होता। दुःखियों का दर्द समझो और ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करो––वह अवश्य मिलेगी। मैं बारह वर्ष तक हृदय पर बोझ लादे और सिर में यह विचार लिए बहुत से तथाकथित धनिकों और अमीरों के दर दर घूमा। हृदय का रक्त बहाते हुए मैं आधी पृथ्वी का चक्कर लगाकर इस अजनबी देश में सहायता माँगने आया। परन्तु भगवान् अनन्त शक्तिमान है––मैं जानता हूँ, वह मेरी सहायता करेगा। मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ, परन्तु युवको! मैं गरीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पण करता हूँ। जाओ, इसी क्षण जाओ उस पार्थसारथी––भगवान् कृष्ण––के मन्दिर में, जो गोकुल के दीन हीन ग्वालों के सखा थे, जो गुहक चाण्डाल को भी गले लगाने में नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्धावतार-काल में अमीरों का निमंत्रण अस्वीकार कर एक वारांगना का भोजन का निमंत्रण स्वीकार किया और उसे उबारा; जाओ उनके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके सम्मुख एक महाबलि दो, अपने समस्त जीवन की बलि दो––उन दीन-हीनों और उत्पीड़ितों के लिए, जिनके लिए भगवान् युग युग में अवतार लिया करते हैं, और जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं। और तब प्रतिज्ञा करो कि अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार-कार्य में लगा दोगे, जो दिनोंदिन अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं।

यह एक दिन का काम नहीं, और रास्ता भी अत्यन्त भयंकर कंटकों से आकीर्ण है। परन्तु पार्थसारथी हमारे भी सारथी होने के लिए तैयार हैं--हम यह जानते हैं। उनका नाम लेकर और उन पर अनन्त विश्वास रखकर भारत की युगों से संचित पर्वतकाय अनन्त दुःखराशि में आग लगा दो--वह जलकर राख हो ही जायेगी। तो आओ, भाइयो! साहसपूर्वक इसका सामना करो। कार्य गुरुतर है और हम लोग साधनहीन हैं। तो भी हम अमृतपुत्र और ईश्वर की सन्तान हैं। प्रभु की जय हो, हम अवश्य सफल होंगे। इस संग्राम में सैकड़ों खेत रहेंगे, पर सैकड़ों पुनः उनकी जगह खड़े हो जायेंगे। सम्भव है कि मैं यहाँ विफल होकर मर जाऊँ, पर कोई और यह काम जारी रखेगा। तुम रोगों ने रोग जान लिया और दवा भी; अब बस, विश्वास रखो। तथाकथित धनी या अमीर लोगों का रुख मत जोहो--हृदयहीन, कोरे बुद्धिवादी लेखक और समाचार-पत्रों में प्रकाशित उनके निस्तेज लेखों की भी परवाह न करो। विश्वास, सहानुभूति--दृढ़ विश्वास और ज्वलन्त सहानुभूति चाहिए! जीवन तुच्छ है, मरण भी तुच्छ है, भूख तुच्छ है और जाड़ा भी तुच्छ है। जय हो प्रभु की! आगे कूच करो--प्रभु ही हमारे सेनानायक हैं। पीछे मत देखो। कौन गिरा, पीछे मत देखो--आगे बढ़ो, बढ़ते चलो! भाइयो! इसी तरह हम आगे बढ़ते जायेंगे,--एक गिरेगा, तो दूसरा वहाँ डट जायगा।...

तुम्हारा,
विवेकानन्द

मन और उसका निग्रह

स्वामी बुधानन्द

(गतांक से आगे)

१६. मन को उचित वर्तन सिखलाना

मनोनिग्रह का एक अर्थ यह भी है कि मन को उचित वर्तन सिखाया जाय। यह मानो एक उच्छृंखल और अनियन्त्रित घोड़े को सधाकर उसके द्वारा सर्कस के करतब दिखलानें जैसा है। यह कैसे किया जाय ?

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं——

मन को वश में करने की शक्ति प्राप्त करने के पूर्व हमें उसका भली प्रकार अध्ययन करना चाहिए।

चंचल मन को संयत करके उसे विषयों से खींचना होगा और उसे एक विचार में केन्द्रित करना होगा। बार बार इस क्रिया को करना आवश्यक है। इच्छाशक्ति द्वारा मन को वश में करके उसकी क्रिया को रोककर ईश्वर की महिमा का चिन्तन करना चाहिए।

मन को स्थिर करने का सबसे सरल उपाय है, चुपचाप बैठ जाना और उसे कुछ क्षण के लिए वह जहाँ जाय जाने देना। दृढ़तापूर्वक इस भाव का चिन्तन करो—'मैं मन को विचरण करते हुए देखनेवाला साक्षी हूँ। मैं मन नहीं हूँ।' पश्चात् मन को ऐसा सोचता हुआ कल्पना करो कि मानो वह तुमसे बिलकुल भिन्न है। अपने को ईश्वर से अभिन्न मानो, मन अथवा जड़पदार्थ के साथ एक करके कदापि न सोचो। सोचो कि मन तुम्हारे सामने एक विस्तृत तरंगहीन सरोवर है और आने-जानेवाले विचार इसके तल पर उठनेवाले बुलबुले हैं। विचारों को रोकने का प्रयास न करो, वरन् उनको देखो और जैसे जैसे वे विचरण

करते हैं, वैसे वैसे तुम भी उनके पीछे चलो। यह क्रिया धीरे धीरे मन के वृत्तों को सीमित कर देगी। कारण यह है कि मन विचार को विस्तृत परिधि में घूमता है और वे परिधियाँ विस्तृत होकर निरन्तर बढ़नेवाले वत्तों में फैलती रहती हैं, ठीक वैसे ही जैसे किसी सरोवर में ढेला फेंकने पर होता है। हम इस क्रिया को उलट देना चाहते हैं और बड़े वृत्तों से प्रारम्भ करके उन्हें छोटा बनाते चले जाते हैं--यहाँ तक कि अन्त में हम मन को एक बिन्दु पर स्थिर करके उसे वहीं रोक सकें। दृढतापूर्वक इस भाव का चिन्तन करो--'मैं मन नहीं हूँ, मैं देखता हूँ कि मैं सोच रहा हूँ। मैं अपने मन तथा अपनी क्रिया का अवलोकन कर रहा हूँ।' प्रतिदिन मन और भावना से अपने को अभिन्न समझने का भाव कम होता जायगा; यहाँ तक कि अन्त में तुम अपने को मन से बिलकुल अलग कर सकोगे और वास्तव में इसे अपने से भिन्न जान सकोगे।

इतनी सफलता प्राप्त करने के बाद मन तुम्हारा दास हो जायगा और उसके ऊपर इच्छानुसार शासन कर सकोगे। इन्द्रियों से परे हो जाना योगी की प्रथम स्थिति है। जब वह मन पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब सर्वोच्च स्थिति प्राप्त कर लेता है। †

जब हम यह अभ्यास प्रारम्भ करते हैं तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि कितने प्रकार के घिनौने विचार हमारे मन में उठते हैं। ज्यों ज्यों अभ्यास आगे बढ़ता है त्यों त्यों कुछ समय के लिए मन की चंचलता बढ़ती-सी मालूम पड़ती है। किन्तु हम जितना ही अपने आप को मन से अलग करने का प्रयास करेंगे, मन के ये खेल उतना ही कम होते जायेंगे। धीरे धीरे उसकी

† विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पष्ठ ९०-९१।

चंचलता साधक के अध्यवसाय और सजगता के फलस्वरूप शक्तिहीन होती जायेगी और अन्त में मन सर्कस के घोड़े के समान सध जायगा; वह अनुशासन में रहता हुआ भी बली बना रहेगा। हमें कुछ समय तक प्रतिदिन कई बार समय बाँधकर नियमित रूप से मन का पीछा करना चाहिए। इस अभ्यास को तब तक चलाना चाहिए जब तक मन उचित वर्तन करना नहीं सीख जाता।

१७. प्राणायाम का अभ्यास

हम यह देखेंगे कि जब हमारा मन विक्षिप्त होता है, तो हमारी साँस जल्दी जल्दी और अनियमित रूप से चलने लगती है। मन को शान्त करने का एक उपाय है श्वास-प्रश्वास को नियमित करना। गहरे श्वास-प्रश्वास का अभ्यास मन को स्थिर करने में सहायक होता है।

उल्लेखनीय है कि प्राणायाम का अभ्यास मनोनिग्रह में बहुत सहायक होता है। किन्तु प्राणायाम की शिक्षा किसी जानकार शिक्षक से ग्रहण करनी चाहिए तथा उसका अभ्यास शुद्ध वातावरण में करना चाहिए। फिर, जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, या जिनका हृदय, फेफड़ा अथवा स्नायु-जाल कमजोर या रोगी है, उन्हें प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

१८. प्रत्याहार का अभ्यास

सामान्यतया हमारी दशा ऐसी है कि हम कतिपय चीजों पर मन को केन्द्रित करने के लिए विवश हो जाते हैं। बाहर के विषयों में आकर्षण होता है, जिसके कारण

हमारा मन उनमें जाकर चिपक जाता है। इस प्रकार हम प्रलोभित करनेवाले विषयों के दास बन जाते हैं। हमारी यथार्थ दशा तो ऐसी हो कि जब हम चाहें, इच्छानुसार मन को कहीं लगा लें। बाहर की चीजें हमारे मन पर जबरदस्ती न कर सकें। यह पाठ मनोनिग्रह की दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कदम है। वास्तव में जब तक हम यह सबक नहीं सीखते, तब तक मनोजय की दिशा में हम तनिक भी आगे नहीं बढ़ पाते।

अब प्रश्न यह है कि यह सधे कैसे? स्वामी विवेकानन्द बतलाते हैं—

हम संसार में सर्वत्र देखते हैं कि सभी यह शिक्षा दे रहे हैं, 'अच्छे बनो', 'अच्छे बनो', 'अच्छे बनो'। संसार में शायद किसी देश में ऐसा बालक नहीं पैदा हुआ जिसे मिथ्या भाषण न करने, चोरी न करने आदि की शिक्षा नहीं मिली; परन्तु कोई उसे यह शिक्षा नहीं देता कि वह इन अशुभ कर्मों से किस प्रकार बचे। केवल बात करने से कोई काम नहीं बनता। वह चोर क्यों न बने? हम तो उसको चोरी से निवृत्त होने की शिक्षा नहीं देते, उससे बस इतना ही कह देते हैं, 'चोरी मत करो'। यदि उसे मनःसंयम का उपाय सिखाया जाय, तभी वह यथार्थ में शिक्षा प्राप्त कर सकता है, और वही उसकी सच्ची सहायता और उपकार है। जब मन इन्द्रिय नामक भिन्न भिन्न स्नायु-केन्द्रों में संलग्न रहता है तभी समस्त बाह्य और आभ्यन्तरिक कर्म होते हैं। इच्छापूर्वक और अनिच्छापूर्वक मनुष्य अपने मन को भिन्न भिन्न (इन्द्रिय नामक) केन्द्रों में संलग्न करने को बाध्य होता है। इसीलिए मनुष्य अनेक प्रकार के दुष्कर्म करता है और बाद में कष्ट पाता है। मन यदि अपने वश में रहता, तो मनुष्य

कभी अनुचित कर्म न करता। मन को सयत करने का फल क्या है ? यही कि मन संयत हो जाने पर वह फिर विषयों का अनुभव करनेवाली भिन्न भिन्न इन्द्रियों के साथ अपने को सयुक्त नहीं करेगा। और ऐसा होने पर सब प्रकार की भावनाएँ और इच्छाएँ हमारे वश में आ जायेंगी। यहाँ तक तो बहुत स्पष्ट है। अब प्रश्न यह है, क्या यह सम्भव है ? हाँ, यह सम्पूर्ण रूप से सम्भव है। †

पतंजलि द्वारा उपदिष्ट प्रत्याहार के अभ्यास से यह साधा जा सकता है।

प्रत्याहार क्या है ? प्रत्याहार वह रोक है जिसके फलस्वरूप इन्द्रियाँ अपने विषयों के सम्पर्क में नहीं आ पातीं और मानो (नियन्त्रित) मन के स्वभाव का अनुवर्तन करती हैं।

जब मन को इन्द्रिय-विषयों से हटा लिया जाता है, तो इन्द्रियाँ भी अपने विषयों से हट जाती हैं और मन का अनुवर्तन करने लगती हैं। इसी को प्रत्याहार कहते हैं। ‡

इन्द्रिय-विषयों और इन्द्रियों के बीच मन ही कड़ी है। जब मन इन्द्रिय-विषयों से हट जाता है, तो इन्द्रियाँ भी मन की नकल करती हैं, अर्थात् वे भी विषयों से हट जाती हैं। जब मन नियंत्रित होता है, तो इन्द्रियाँ भी अपने आप नियन्त्रित हो जाती हैं। जैसे रानी मधुमक्खी के उड़ने से अन्य मधुमक्खियाँ भी उड़ती हैं और उसके बैठने पर वे भी बैठ जाती हैं, ठीक इसी

---

† विवेकानन्द साहित्य, खंड १, पृष्ठ ८३।

‡ पतंजलि कृत 'योगसूत्र', २/५४।

प्रकार मन के नियन्त्रण में आ जाने पर इन्द्रियाँ भी नियन्त्रित हो जाती हैं। इसे प्रत्याहार कहते हैं।

प्रत्याहार का रहस्य है इच्छाशक्ति, जिसका विकास हर सहज व्यक्ति करने में समर्थ है; पर बहुत से लोगों में वह अविकसित अवस्था में रहती है। प्रत्याहार में स्थिति हो जाने पर साधक अपनी इन्द्रियों, विचारों और भावनाओं पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। प्रत्याहार का अभ्यास इच्छाशक्ति के विकास में सहायक है और इच्छाशक्ति प्रत्याहार के विकास में सहायक होती है।

१९. सामंजस्यपूर्ण मानवीय सम्बन्धों का महत्त्व

बाइबिल में ईसा मसीह 'सर्मन आन दि माउन्ट' प्रकरण में कहते हैं --

. . . यदि तू पूजा की वेदी पर अपना चढ़ावा लाता है और वहाँ पर तुझे अपने भाई से विरोध का स्मरण आता है, तो तू वहीं वेदी के सामने अपना चढ़ावा छोड़ दे और घर लौट जा; पहले अपने भाई से विरोध दूर कर ले और तब आ और अपनी भेंट चढ़ा। †

यह ईसा मसीह की एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा है। मन की जिन अवस्थाओं पर आध्यात्मिक जीवन टिका करता है, उनके साथ मानवीय सम्बन्ध घनिष्ठ रूप से जुड़े रहते हैं।

जो अपने मन को वश में करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे मन में दुर्भावनाओं, शिकायतों या गलत

---

† मैथ्यू, ५/२३-२४।

आवेगों का संचय न करें। मन का उपयोग उच्चतर उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिए। दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए तथा अनासक्ति, क्षमा और विनय के अभ्यास के द्वारा हमें अपने मानवीय सम्बन्धों को सहज-सरल बनाये रखना चाहिए। श्रीमाँ सारदा देवी का कथन है--'क्षमा ही तपस्या है'। †

अस्वस्थ या टूटे हुए मन की अपेक्षा एक स्वस्थ मन को वश में करना कहीं अधिक सरल है। हम नीचे एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो दर्शाता है कि मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करने में क्षमा कैसे सहायक होती है। बरसों पहले डॉ० युंग ने एक सुझाव दिया था कि पादरियों और वैज्ञानिकों को मानवीय दुःख कम करने के लिए एक साथ काम करना चाहिए। 'अमेरिकन मैगजीन' के अक्तूबर १९४७ के अंक में एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें इस प्रकार के एक उल्लेखनीय क्लिनिक की बात छपी थी, जहाँ हताश और टूटे दिलवालों के उपचार की व्यवस्था थी।

इस क्लिनिक में एक चौंतीस वर्षीय महिला आयी। उसकी उम्र पचास की दीख रही थी और वह महीनों से अनिद्रा, स्नायु-दौर्बल्य और क्रॉनिक थकान की शिकार थी। वह बहुत से चिकित्सकों के पास गयी, पर कोई लाभ नहीं हुआ। धार्मिक प्रवृत्ति की होने के कारण उसने प्रार्थना करने की भी कोशिश

† श्री श्री सारदा देवी: 'दि होली मदर', श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, १९४९, पृष्ठ ४५७।

की, पर सफलता न मिली। अन्त में वह इतनी हताश हो गयी कि उसने आत्महत्या कर लेना चाहा। क्लिनिक के मनश्चिकित्सकों ने अनुसन्धान करके उसके रोग का यथार्थ कारण यह पाया कि वह अपनी बहिन के प्रति प्रबल क्रोध का भाव पोषित करती थी, क्योंकि उसने उस व्यक्ति से शादी कर ली थी जिससे कि यह स्वयं ही विवाह करना चाहती थी। ऊपर से वह अपने बहिन के प्रति सहृदय मालूम पड़ती थी, किन्तु उसके अवचेतन मन की गहराइयों में अपनी बहिन के प्रति प्रबल घृणा का भाव भरा था, जिसके कारण उसका मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य बुरी तरह नष्ट हो गया। एक पादरी उसकी सहायता के लिए आये और उससे बोले, 'तुम जानती हो कि घृणा करना बुरा है। तुम्हें भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए कि प्रभो, तुम मुझे शक्ति दो जिससे मैं अपनी बहिन को हृदय से क्षमा कर सकूँ। भगवान् तुम्हें शान्ति प्रदान करेंगे।' उसने इस सलाह का पालन किया। 'अपने से एक बृहत्तर शक्ति में विश्वास करके, उससे प्रार्थना करते हुए वह अपनी बहिन को क्षमा करने में समर्थ हुई। उसकी हताशा और अनिद्रा दूर हो गयी और उसे अब एक नया जीवन प्राप्त हो गया है, जिसमें वह पहले की अपेक्षा बहुत सुखी है।' †

२०. स्वस्थ कार्यों में मन का रत रहना आवश्यक

'खाली दिमाग शैतान का घर' यह कहावत अत्यन्त सत्य है। अतः मन को स्वस्थ और सर्जनात्मक कार्यों में लगाकर रखना चाहिए। उसे उच्च विचारों और उदात्त अन्तःप्रेरणा की खुराक देनी चाहिए। अन्यथा वह निम्न विषयों की ओर बहेगा और बिखर जायगा।

---

† स्वामी यतीश्वरानन्द कृत 'एडवेन्चर्स इन रिलीजियस लाइफ', श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, १९५९, पृष्ठ १५९-६०।

बिखरे हुए मन को नियन्त्रण में नहीं लाया जा सकता।

यदि हम मन की अस्थिरता की गहराई में घुसें तो हम देखेंगे कि उस अस्थिरता का कारण एक गलत विचार है या परस्पर प्रतिक्रिया करनेवाले बहुत से गलत विचार हैं। अतएव मन को स्थिर करने के लिए हमें पूरी सतर्कता के साथ अपने विचारों की चौकसी करनी चाहिए। बौद्ध धर्म के ये उपदेश हैं—

फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी उसुकारो' व तेजनं॥
सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थ कामनिपातनं।
चित्तं रक्खेथ मेधावी चित्तं गुत्तं सुखावहं॥
अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीनस्स नत्थि जागरतो भयं॥

—'जैसे इषुकार (बाण बनानेवाला) अपने बाण को सीधा करता है, वैसे ही बुद्धिमान पुरुष अपने नित्य विचलनशील और चंचल मन को सीधा करता है जिसकी रक्षा करना कठिन है तथा जिसका निवारण अत्यन्त कठिनाई से होता है। बुद्धिमान पुरुष अपने चित्त की रक्षा करे, जो बहुत चतुर है, जिसे देखना कठिन है तथा जो यथेच्छ भागनेवाला है। रक्षित किया हुआ चित्त सुख-वर्धक होता है। जिसका चित्त बिखरा हुआ नहीं है, जिसका मन विक्षोभ से रहित है, जिसका अन्तःकरण पुण्य और पाप दोनों का चिन्तन नहीं करता, ऐसे जागरूक व्यक्ति को भय नहीं होता।' †

यदि हम ठीक ढंग से आत्मनिरीक्षण करें तो पता चलेगा कि असावधानी ही हमारे बहुत से मानसिक क्षोभों की जड है। यह असावधानी हमारे स्वभाव में घुस गयी है,

† धम्मपद, ३३, ३६, ३९।

क्योंकि हमने अपने मन को उच्चतर आभ्यन्तरिक कार्यों में लगने के लिए प्रशिक्षित नहीं किया है। श्री शंकराचार्य उपदेश प्रदान करते हैं—

ब्रह्मनिष्ठा में हमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। ब्रह्मा-तनय भगवान् सनत्कुमार ने प्रमाद को मृत्यु ही कहा है।

ज्ञानी के लिए अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि में प्रमाद से बढ़कर और कोई अनर्थ नहीं है। प्रमाद से भ्रम उत्पन्न होता है, उससे अहंकार जन्म लेता है, अहंकार से बन्धन और बन्धन से दुःख उपजता है।

विद्वान् व्यक्ति भी विषयों की चपेट में आने के कारण बुद्धि के दोष से उसी प्रकार विस्मृति से पीड़ित होता है, जैसे एक यार अपनी प्रिया (के चिन्तन) से।

जैसे काई हटा देने पर भी क्षण भर के लिए भी दूर नहीं रहती, बल्कि फिर से जल में छा जाती है, उसी प्रकार माया आत्मा से पराङ्मुख बुद्धिमान पुरुष को भी ढक लेती है।

यदि चित्त तनिक भी लक्ष्य से विच्युत होकर बहिर्मुखी हो जाय, तो वह वैसे ही नीचे नीचे गिरता रहता है, जैसे एक गेंद असावधानी से सीढ़ी पर गिर जाने से टप्पे पर टप्पे खाती हुई नीचे गिरती जाती है। †

---

† प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन।
प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान्ब्रह्मणः सुतः॥ ३२१॥
न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा॥ ३२२॥
विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विद्वांसमपि विस्मृतिः।
विक्षेपयति धीदोषैर्योषा जारमिव प्रियम्॥ ३२२॥
यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्॥ ३२४॥

जीवन के उच्चतम लक्ष्य उस परमात्मा के प्रति सतत सजगता का अभ्यास करना मन को स्थिर करने का एक बली साधन है। वास्तव में जब हम इस साधना का अभ्यास करते हैं, तो अन्यान्य साधनाओं से भी हमें अधिकाधिक लाभ मिलता है।

मन के स्वस्थ कार्यरत रहने का यह मतलब नहीं कि वह नीरस हो जाय। यदि वह नीरस हो जाता है तो उसके अस्वस्थ और निम्नगामी होने की बड़ी सम्भावना रहती है। मन को स्वस्थरूप से कार्यरत रखने के लिए हम साधना में उत्साहप्रद विविधता ला सकते हैं। श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं --

दान, अपने धर्म का पालन, यम, नियम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्य आदि श्रेष्ठ व्रत--इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान् में लग जाय। मन का समाहित हो जाना ही परमयोग है। †

लक्ष्यच्युतं चेद्यपि चित्तमीषद्
बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः।
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः
सोपानपंक्तौ पतितो यथा यथा ॥ ३२५ ॥
--विवेकचूड़ामणि।

† दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः ॥
--भागवत, ११।२३।४६

२१. कल्पनाशक्ति के सम्यक् उपयोग का महत्त्व

मनुष्य को कल्पना करने की शक्ति प्राप्त है। मनः-संयम की राह में बहुत से मानसिक कष्टों और बाधाओं का जन्म इसलिए होता है कि हम गलत ढंग से इस कल्पनाशक्ति के उपयोग के आदी हो गये हैं। हममें से अधिकांश लोग दिवा-स्वप्न देखने के अभ्यस्त होते हैं और तरह तरह के अर्थहीन हिसाबों में व्यस्त रहते हैं। हमारी आशाएँ-अपेक्षाएँ भले ही काल्पनिक हों, परन्तु उनसे हमें यथार्थ निराशा मिलती है। भले ही हमारे भय का कोई आधार न हो, पर वह तो सचमुच में हमारे हृदयों को धड़कनों से भर देता है। अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा हम असत्य को भी अपने लिए सत्य बना लेते हैं और इस प्रकार ऐसी दुश्चिन्ताओं के शिकार हो जाते हैं, जिनकी कि कोई वास्तविक बुनियाद नहीं है। जब हमारी यह आदत पक जाती है, तो मनःसंयम अत्यन्त कठिन हो जाता है। कभी कभी तो हमें यह भी पता नहीं चल पाता कि दिन का एक बड़ा भाग हम स्वप्नराज्य और कल्पना की दुनिया में बिताया करते हैं, सत्य की दुनिया में नहीं।

जब तक हम अपनी इस आदत को दूर नहीं करते, तब तक मन को वश में करना अत्यन्त कठिन होगा। इस आदत को दूर कैसे करें ? निम्नलिखित कथा इस सन्दर्भ में हमें एक महवत्त्वपूर्ण संकेत प्रदान करती है।

एक व्यक्ति कुछ कुछ नशे में खोया हुआ धीरे धीरे सड़क

पर से जा रहा था। उसके हाथ में एक बक्सा था, जिसके ढक्कन और बाजुओं में छेद थे। ऐसा लगता था मानो वह उस बक्से में किसी जीवित प्राणी को लिए जा रहा हो। रास्ते में एक परिचित मिल गया, उसने उसे रोककर पूछा, 'तुम्हारे इस बक्से में क्या है?' नशे के झोंक में उसने उत्तर दिया, 'इसमें एक नेवला है।' 'भला किसलिए?' 'तुम तो जानते ही हो कि मेरी आदत कैसी है। अभी मैं पूरी तरह नशे में नहीं हूँ, पर जल्दी हो जाऊँगा। और जब मैं पूरा मदहोश हो जाता हूँ तो चारों ओर साँप ही साँप देखने लगता हूँ। तब मुझे डर लगता है। इसीलिए मैं नेवला लिये जा रहा हूँ, ताकि साँपों से मेरी रक्षा हो सके।' 'ओफ्फो! पर तुम्हारे ये सर्प तो काल्पनिक हैं!' 'हाँ, पर मेरा यह नेवला भी काल्पनिक है!' वास्तव में बक्सा खाली था! †

इसी प्रकार हम एक कल्पना को काटने के लिए एक दूसरी कल्पना का सहारा लेते हैं। एक गलत कल्पना को फेंकने के लिए एक सही कल्पना ग्रहण करते हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं--'यदि कल्पना का सदुपयोग करें, तो वह हमारी परम हितैषिणी है। वह युक्ति के परे जा सकती है और वही एक ऐसी ज्योति है जो हमें सर्वत्र ले जा सकती है।' ‡ कल्पनाओं में सबसे पवित्र कल्पना तो ईश्वर का विचार है। हम जितना ही ईश्वर के विचार से चिपकते हैं, मन के साथ हमारे संघर्ष उतने ही कम होते हैं।

(क्रमशः)

† स्वामी यतीश्वरानन्द, वही, पृष्ठ २६३।

‡ विवेकानन्द साहित्य, खंड ४, पृष्ठ ६२।

स्वामी स्वरूपानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

सन् १८९७ ईसवी में युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का विश्वव्यापी प्रचार कर कलकत्ता में पदार्पण किया था। तब वे बेलुड़ में नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में वास कर रहे थे। प्रतिदिन कलकत्ता से दर्शनार्थियों की भीड़ वहाँ पहुँच जाया करती। वैशाख या ज्येष्ठ मास की एक दुपहरी में कलकत्ते से छब्बीस वर्ष का एक नवयुवक भी स्वामीजी के दर्शन के लिए बेलुड़ पहुँचा। उसका नाम था अजयहरि बन्द्योपाध्याय। यद्यपि उसका विवाह हो चुका था, पर उसका मन संसार में नहीं बँध पाया था। ईश्वर को जानने की व्याकुलता कभी कभी उसके हृदय को विदीर्ण कर दिया करती थी। ऐसी मन:स्थिति में वह स्वामीजी के समीप आया। स्वामीजी के भव्य रूप को निहारते और उनके देवोपम कण्ठ-स्वर को सुनते सुनते कब सन्ध्या हो गयी, इसका भान उसे नहीं हुआ। एक एक करके सारे दर्शनार्थी स्वामीजी को प्रणाम करके चले गये, पर अजयहरि मन्त्रमुग्ध-सा बैठा ही रहा। स्वामीजी ने इस कृशकाय युवक की ओर देखा। उसकी आँखों में एक विलक्षण चमक थी। स्वामीजी की कृपादृष्टि पाते ही अजयहरि उनके समीप पहुँचा और उन्हें प्रणाम करके उसने अपना परिचय दिया। अजयहरि ने उनसे कहा कि वह संसार त्यागकर

संन्यास ग्रहण करना चाहता है और उनके पाद-प्रदेश में जीवन बिताना चाहता है। स्वामीजी अजयहरि की सरलता पर मुग्ध हुए। उन्होंने उसे बेलुड़ आते रहने के लिए कहा।

ऐसे तो अजयहरि में बहुत दिनों से संन्यास-जीवन बिताने की कामना उठा करती थी, पर स्वामीजी के प्रथम साक्षात्कार ने उसके वैराग्य-भाव को और भी दीप्त कर दिया। उसे अब सांसारिक कर्तव्यों के प्रति तीव्र अरुचि होने लगी। वह बार बार बेलुड़ जाने लगा। स्वामीजी के साहचर्य में उसकी संसार के प्रति आसक्ति नष्ट होने लगी और संन्यास ग्रहण करने की इच्छा और भी बलवती हो गयी। एक दिन स्वामीजी ने उसके हृदय की थाह लेते हुए पूछा, "अजयहरि! क्या तुम संन्यास के कठोर नियमों की रक्षा कर सकोगे? मैं तुम्हें साँप के मुख में जाने के लिए कहूँगा, तोप के मुँह में जाने के लिए कहूँगा, और तुम्हें मृत्यु को निश्चित समझकर, बिना किसी हिचक के, अविचलित भाव से यह सब करना पड़ेगा। सुखाभिलाषी होने से कुछ नहीं होगा। तुम कामिनी-कांचन से रंचमात्र सम्बन्ध नहीं रख सकोगे। हृदय की ममता को टुकड़े टुकड़े कर विसर्जित करना होगा। 'अभिमानं सुरापानं गौरवं घोर रौरवं प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा'--ऐसा जानकर इनका त्याग करना होगा। 'गुरुदेवः', 'आत्मदेवः' होकर 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' जीवन-यापन करना होगा। कर

सकोगे ? जान-सुनकर आगे बढ़ो, अन्यथा लौट जाओ और जिस प्रकार संसार में परिवारादि को लेकर सद्भाव-पूर्वक इतना समय व्यतीत किया है, उसी प्रकार मृत्यु पर्यन्त रहो।" स्वामीजी के कठोर वचनों को सुनकर भी अजयहरि अविचलित रहा। उसकी संन्यास-ग्रहण की इच्छा और भी दृढ़ हो गयी। स्वामीजी अजयहरि को परख चुके थे। उन्होंने उसे मठ में निवास करने की अनुमति दे दी।

अजयहरि के जीवन की एक महती साध पूरी हुई। वे अब सर्वतोभावेन स्वामीजी के प्रति समर्पित हो गये। एक पुनीत दिवस ब्राह्ममुहूर्त में स्वामीजी ने मन्दिर में अजयहरि को बुलवाया। विरजा होम किया गया और अजयहरि ने गैरिक वसन धारण कर नये जीवन के प्रदाता युगाचार्य के चरणों में प्रणाम किया। स्वामीजी ने भी इस सुविकसित जीवन-प्रसून को श्रीरामकृष्ण देव के चरणों में अर्पित कर असीम आनन्द का अनुभव किया। उन्होंने तानपूरा उठाया और उनकी स्वर्गिक स्वर-लहरी से मन्दिर-प्रकोष्ठ गूँज उठा। युगाचार्य के कृपा-कटाक्ष ने अजयहरि बन्द्योपाध्याय को स्वामी स्वरूपानन्द बना दिया।

अजयहरि सन् १८७१ ईसवी में ८ जुलाई को कलकत्ता के भवानीपुर मुहल्ले के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनके कुलदेवता श्रीकृष्ण थे तथा उनके घर में नित्य ही भगवान् की पूजा-अर्चना

हुआ करती थी। इस धार्मिक वातावरण में अजयहरि में भगवद्भक्ति के बीज अंकुरित होने लगे। वैष्णव-सम्प्रदाय की साधना के फलस्वरूप उनमें विनय और परदु:खकातरता के भावों का विशेष विकास हुआ था। अजयहरि का यह विश्वास था कि ईश्वर ही मनुष्य के पाप-पुण्य के नियामक हैं। किन्तु कालान्तर में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनके कारण अजयहरि अधिक गहराई से ईश्वर के सम्बन्ध में सोचने के लिए प्रेरित हुए। एक बार सड़क पर चलते चलते उन्होंने देखा कि एक गरीब बूढ़ा रोते रोते धूल में बिखरे चावल के दानों को बीन रहा है। किसी व्यक्ति के धक्के से उसकी चावल की पोटली छूट गयी थी और चावल धूल में इधर उधर फैल गये थे। यह देखकर अजयहरि का हृदय चीत्कार कर उठा। वे सोचने लगे--"अगर कहीं ईश्वर हैं, तो वे बैठे बैठे क्या कर रहे हैं? उन्होंने इस दुर्घटना को रोका क्यों नहीं?" संसार की यथार्थता से परिचित होने पर अजयहरि का चित्त अस्थिर हो उठा। वे सृष्टि के मूल रहस्य को समझने के लिए व्याकुल हो उठे। उनकी चिन्तनशीलता ने उनके स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव डाला और इसका दुष्फल वे जीवन भर भोगते रहे।

अजयहरि बड़े मेधावी और विद्यानुरागी थे। उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। संस्कृत साहित्य में उनकी गहरी पैठ थी और वे वैदिक धर्म और नीति की रक्षा करना चाहते थे। वे मुहल्ले के लोगों को एकत्रित करते

और उन्हें अनेकानेक गोष्ठियों के द्वारा धार्मिक एवं नैतिक जीवन बिताने के लिए प्रेरणा देते। प्रसिद्ध विद्वान् श्री सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय के सहयोग से उन्होंने जनसामान्य में शास्त्र-चर्चा और व्याकरण-दर्शन के अध्ययन के लिए 'भागवत चतुष्पाठी' की स्थापना की थी। इस चतुष्पाठी का संचालन भिक्षा और दान के द्वारा किया जाता था। इसका उद्देश्य छात्रों में उच्च आदर्शों का प्रचार करने के लिए नियमित रूप से पाठ-चक्र, वक्तृता और वादविवाद आदि की व्यवस्था करना और एक ग्रन्थागार चलाना था। अजयहरि 'डॉन' नामक मासिक पत्रिका के भी सम्पादक थे तथा उन्हीं की प्रेरणा से सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय ने 'डॉन सोसायटी' का गठन किया था। यह पत्रिका बहुत लोकप्रिय हुई थी तथा स्वाधीनता-संग्राम में इसने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। अजयहरि संन्यास-धारण के पूर्व तक इस पत्रिका का सम्पादन करते रहे।

जिस प्रकार अजयहरि का जीवन युगाचार्य विवेकानन्द के मंगलमय आशीष से कृतार्थ हो उठा था, उसी प्रकार स्वामीजी भी अपने इस उच्चमना शिष्य को संन्यास-पथ पर अग्रसर कर आनन्दित हुए थे। तब मठ नीलाम्बर मुखर्जी के किराये के मकान में था। वहाँ पर स्वामीजी अपने गुरुभाइयों और शिष्यों के साथ निवास कर रहे थे। ऐसे तो स्थायी मठ के लिए जमीन खरीदी जा चुकी थी, पर वहाँ एक टूटा-फूटा मकान ही बाकी

था। उस खण्डहर में स्वामीजी की पाश्चात्य शिष्याएँ धीरामाता, निवेदिता और जया रहा करती थीं। जिस दिन स्वामीजी ने अजयहरि को दीक्षा दी थी, उस दिन वे घूमते घूमते वहाँ पहुँचे और धीरामाता, निवेदिता और जया को देखकर आनन्दोच्छ्वसित कण्ठ से बोल उठे, "आज हमें एक रत्न मिला है !" कहना न होगा कि यह रत्न स्वामी स्वरूपानन्द ही थे।

स्वामीजी स्वरूपानन्द के दुर्बल शरीर को देखकर चिन्तित थे। उन्होंने मठ के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी से कहा, "स्वरूप का शरीर ठीक नहीं है। वह दाल-चच्चड़ी (तरकारी विशेष) नहीं सह पायेगा। उसके लिए दूध का बन्दोबस्त कर दो।" यद्यपि स्वरूपानन्द का शरीर दुर्बल था, पर उनमें अपार कर्मठता थी। साथ ही, वे गहरी आध्यात्मिकता के भी धनी थे। स्वामीजी ने स्वरूपानन्द की दीक्षा से चार दिन पहले ही मिस मार्गरेट नोबल को ब्रह्मचर्य-व्रत में दीक्षित किया था और उनका नाम भगिनी निवेदिता रखा था। उन्होंने स्वरूपानन्द को निवेदिता को बँगला भाषा सिखाने का काम सौंपा। निवेदिता को स्वरूपानन्द से केवल बँगला भाषा की ही शिक्षा नहीं मिली, प्रत्युत आध्यात्मिक साधना के लिए उनसे पर्याप्त मार्गदर्शन भी मिला। भगिनी निवेदिता ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "अलमोड़ा में स्वामी स्वरूपानन्द के गीतापाठ के समय मैं यह समझ गयी कि भगवत्प्रेम की तुलना प्रचण्ड तृष्णा से क्यों की जाती

है। उनकी शिक्षा में पूरे सोलह आने मन लगाकर मैंने ध्यान की साधना आरम्भ की। उनकी सहायता न मिलने पर मेरे जीवन का एक श्रेष्ठ अवसर विफल हो जाता।"

इसी समय स्वामीजी के अन्य पाश्चात्य भक्त कैप्टिन सेवियर और मैडम सेवियर अलमोड़ा से वहाँ आये। उन्होंने देखा कि कलकत्ता की विषम जलवायु में स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। उन्होंने स्वामीजी से अलमोड़ा चलने का अनुरोध किया। स्वामीजी ने अनुरोध को स्वीकार करते हुए कहा, "ठीक है, तुरीयानन्द और सदानन्द भी हमारे साथ चलेंगे। स्वरूप का शरीर भी स्वस्थ नहीं रहता, वह भी जायेगा।" इस प्रकार ११ मई, सन् १८९८ ई० को स्वामीजी के साथ स्वरूपानन्द अलमोड़ा पहुँचे। उनके साथ निवेदिता, धीरामाता और जया भी थीं। अलमोड़ा-प्रवास के काल में स्वरूपानन्द को अत्यन्त निकटता से स्वामीजी के साथ रहने का अवसर मिला। स्वामीजी ने उनकी सभी वैयक्तिक तथा अन्य समस्याओं का समाधान किया तथा श्रीरामकृष्ण देव द्वारा प्रवर्तित धर्मान्दोलन की विशिष्टता से उन्हें परिचित कराया। स्वामीजी ने कहा—"हमारी प्रणाली को सरलतापूर्वक बताया जा सकता है। यह राष्ट्रीय जीवन के पुनरुज्जीवन की प्रणाली है। .. त्याग और सेवा हमारे राष्ट्रीय आदर्श हैं। इन दोनों धाराओं में जीवन को प्रवाहित होने दो और बाकी अपने आप ठीक हो जायेगा।"

अलमोड़ा में स्वामीजी को ऊटकमण्ड से अपने प्रिय सहचर गुडविन और मद्रास से अपने कर्मठ भक्त राजम अय्यर के देहावसान के दुखद समाचार मिले। राजम अय्यर स्वामीजी की भावधारा से अनुप्राणित 'प्रबुद्ध भारत' अँगरेजी मासिक का संचालन-सम्पादन कर रहे थे। उन्होंने जुलाई सन् १८९६ ई० से इसका प्रकाशन आरम्भ किया था। अय्यर के शरीरपात से पत्रिका का प्रकाशन सम्भव नहीं दीख रहा था, इसलिए स्वामीजी को अत्यन्त दुःख हुआ। उन्होंने कैप्टिन सेवियर से कहा—"सेवियर! तुमने कहा था कि तुम भारत के कल्याण के लिए कार्य करोगे। तुम्हारे लिए बंगाल की गर्मी और जलवायु को सहना सम्भव नहीं है। इसलिए तुम अलमोड़ा में ही कोई स्थान निश्चित कर 'प्रबुद्ध भारत' को चलाने का भार ग्रहण करो। इसके तीन हजार से भी अधिक ग्राहक हैं। मेरे ही परामर्श से इसका प्रकाशन शुरू हुआ था और मैं यह नहीं चाहता कि यह बन्द हो जाय। यह वेदान्त-प्रचार का एक विशेष यंत्र बन गया है। मैं इसके लिए उपयुक्त सम्पादक भी तुम्हें दे रहा हूँ। स्वरूपानन्द को इसके बारे में अनुभव है। स्वामी तुरीयानन्द और तुम्हारी सहायता से वह अनायास इस कार्य को चला लेगा।" सेवियर ने तत्काल अपनी सहमति व्यक्त की और अलमोड़ा से 'प्रबुद्ध भारत' के प्रकाशन की व्यवस्था करने लगे। स्वरूपानन्द इसके सम्पादक बने।

सन् १८९८ के अगस्त मास में स्वरूपानन्द के

सम्पादन में 'प्रबुद्ध भारत' नये कलेवर में प्रकाशित हुआ। इसमें स्वामीजी की आशीर्वादस्वरूप भेजी गयी 'टु दि अवेकंड इंडिया' (प्रबुद्ध भारत के प्रति) नामक कविता प्रकाशित हुई थी। गुडविन के देहावसान के उपरान्त उसकी स्मृति में लिखी गयी स्वामीजी की एक अन्य कविता 'रिक्विसकेट इन पीस' (शान्ति की गोद में) भी इसमें छपी। स्वामीजी ने 'प्रबुद्ध भारत' को 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' का भरत-वाक्य भी प्रदान किया। 'प्रबुद्ध भारत' की स्थायी व्यवस्था करने के लिए कैप्टिन सेवियर ने अलमोड़ा से ५० मील दूर मायीपट नामक पर्वतीय भूखण्ड खरीद लिया। इसे मायावती के नये नाम से जाना जाता है। १९ मार्च, सन् १८९९ ई० को यहाँ श्रीरामकृष्ण देव की जयन्ती के अवसर पर स्वामीजी द्वारा आकांक्षित अद्वैत आश्रम की स्थापना की गयी। इसके साथ ही 'प्रबुद्ध भारत' का कार्यालय भी यहीं स्थानान्तरित हो गया। कुछ दिनों बाद एक छोटासा प्रेस भी यहाँ लगाया गया। सेवियर-दम्पति आश्रम के समीप एक पृथक् घर में रहते थे। स्वरूपानन्द से वे पुत्रवत् स्नेह करते। स्वरूपानन्द सम्पादन-कार्य में बड़े कुशल थे। उसी प्रकार उनकी आश्रम-संचालन की क्षमता भी प्रशंसनीय थी। अद्वैत आश्रम की सुव्यवस्था और प्रगति के समाचार से स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा—"स्वरूप से कहना कि मुझे उसके पत्रिका-संचालन से

बड़ी खुशी हुई है। वह महान् कार्य कर रहा है।"

वस्तुतः स्वरूपानन्द की तेजोद्दीप्त लेखनी से 'प्रबुद्ध भारत' समृद्ध से समृद्धतर बनता जा रहा था। उन्होंने स्वामीजी की वाणी, भाषणों और लेखों का नियमित रूप से प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त, 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' का भी धारावाहिक प्रकाशन हो रहा था। भगिनी निवेदिता 'प्रबुद्ध भारत' की नियमित लेखिका थीं। स्वरूपानन्द ने 'प्रबुद्ध भारत' के माध्यम से अनेक व्यक्तियों के भ्रम का भी निराकरण किया था। सन १९०३ ई० में 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में पूना के डेकन कॉलेज के अध्यापक फ्रेज़र नेलसन का एक लेख 'स्वामी विवेकानन्दः ए क्रिटिसिज्म' छपा था। इसमें नेलसन ने स्वामीजी के कार्यों और योजनाओं के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण विचार प्रकट किये थे। इन भ्रमों का निराकरण करने के लिए स्वरूपानन्द ने 'स्वामी विवेकानन्द : ए रिजॉइंडर' नामक लेख प्रकाशित कराया, जिसे पढ़कर नेलसन ने यह स्वीकार किया कि पहले स्वामीजी के सम्बन्ध में उसका ज्ञान अधूरा था।

किन्तु समय सर्वदा समान गति से नहीं चलता। कालान्तर में कैप्टिन सेवियर का देहावसान हो गया और श्रीमती सेवियर शोकसागर में डूब गयीं। मातृस्थानीय श्रीमती सेवियर के दुःख का अनुमान कर स्वामी विवेकानन्द अस्वस्थ होते हुए भी उन्हें सान्त्वना प्रदान करने हेतु ३ जनवरी, १९०१ ई० को अलमोड़ा पहुँचे। इस समय

स्वामीजी के साथ शिवानन्दजी और सदानन्द भी थे। इस बार स्वरूपानन्द को १५ दिनों तक गुरुदेव का पुनीत साहचर्य प्राप्त हुआ और उनकी भावी योजना के सम्बन्ध में जानकारी मिली। युगाचार्य के अमृतमय संस्पर्श से स्वरूपानन्द की कर्मठता में अतुलनीय वृद्धि हुई। उन पर आश्रम-संचालन और पत्रिका-सम्पादन का दोहरा गुरुतर भार तो था ही, साथ ही उन्होंने आंचलिक ग्राम्य जनता के दुःखों के निवारण के लिए कठिन प्रयास प्रारम्भ किये। उस समय वहाँ बड़े पुराने ढंग से खेती की जाती थी। स्वरूपानन्द ने उनके लिए खेती के नये ढंग की शिक्षा की व्यवस्था की तथा ग्रामीण बालकों के लिए मायावती और शोर में विद्यालयों की स्थापना की। उन्होंने मायावती में निःशुल्क औषधालय भी प्रारम्भ किया। इन कार्यों के अतिरिक्त सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ाने के लिए उन्होंने बंगाली उपनिवेश की स्थापना की और पहाड़ी युवकों को हिन्दी सिखाने का कार्य भी हाथ में लिया। वे बीच बीच में अलमोड़ा और नैनीताल में धर्मोपदेश देने हेतु भी जाया करते थे।

सन् १८९९ ई० में स्वरूपानन्द तीर्थयात्रा के लिए निकले, किन्तु जयपुर पहुँचने पर उनका विचार परिवर्तित हो गया। उस समय राजस्थान में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था। अकाल-पीड़ित लोगों की दुर्दशा देखकर वे आगे नहीं बढ़ सके। इसी समय उनकी भेंट अपने गुरुभाई स्वामी कल्याणानन्द से हुई। वे दोनों किशनगढ़ पहुँचे और दुर्भिक्ष

निवारण हेतु सहायता-कार्य करने लगे। उन्होंने अनाथ बालकों के लिए वहाँ एक अनाथाश्रम की भी स्थापना की। यह सेवाकार्य वर्ष भर तक चलता रहा।

स्वामी विवेकानन्द ने हरद्वार में पीड़ित एवं वृद्ध साधुओं को देखकर उनकी सेवा के लिए कल्याणानन्द को एक औषधालय प्रारम्भ करने को कहा था। कल्याणानन्द इस कार्य में मार्गदर्शन प्राप्त करने अलमोड़ा पहुँचे। स्वरूपानन्द तत्काल स्वामीजी के आदेश को साकार करने के लिए सचेष्ट हो गये और नैनीताल की ओर निकल पड़े। वे डेढ़ मास तक चिकित्सालय के लिए घर घर भिक्षा माँगते हुए विचरण करते रहे। इसी द्रव्य से सन् १९०१ ई० में कनखल में सेवाश्रम की प्रतिष्ठा हुई। सन् १९०२ ई० के दिसम्बर में स्वरूपानन्द इलाहाबाद चले आये। यहाँ उन्होंने लगभग तीन महीने वेदान्त-प्रचार किया। उनके वचनों से प्रभावित होकर लोगों ने उनसे इलाहाबाद में आश्रम प्रारम्भ करने का अनुरोध किया। सन् १९०५ ई० में काँगड़ा जिले के धर्मशाला अंचल में भयंकर भूकम्प आया। स्वरूपानन्द तत्काल वहाँ पहुँचे और भूकम्प-पीड़ितों के लिए सेवाकार्य का संचालन किया। इन विविध कार्यों में उलझे रहने के बावजूद स्वरूपानन्द की आध्यात्मिक साधना अबाध गति से चलती रही। वे प्रतिदिन रात्रि को जंगल की ओर निकल जाया करते। आश्रम से दूर घने वन में उन्होंने एक कुटी बनायी थी। एक बार लौटते समय उन्होंने रास्ते पर एक बाघ को बैठे देखा। जब

मदर सेवियर को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने स्वरूपानन्द को रात में वन जाने के लिए मना कर दिया। तब से वे आश्रम के वन में एक कुटी बनाकर ध्यान-साधना करने लगे।

प्रारम्भ में स्वामी विवेकानन्द ने उनसे कहा था--"देख स्वरूप! मैं जिसके सिर पर हाथ रखता हूँ उसे किसी भी प्रकार की चिन्ता व्याप नहीं सकती। इस बात को तू निश्चित रूप से जान ले।" युगाचार्य के आशीर्वाद से स्वरूपानन्द का सारा जीवन कृतकृत्य हो गया था। वे गुरुभक्ति के जीते-जागते विग्रह थे। यद्यपि उनका संन्यास-जीवन मात्र आठ वर्षों का ही था, पर इतने अल्पकाल में उन्होंने वेदान्त-प्रचार का महान् कार्य सम्पन्न किया था। उन्होंने स्वामीजी की ग्रन्थावली का प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया था, पर उसे अपने जीवन-काल में पूरा नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त, उन्होंने गीता का अँगरेजी अनुवाद भी किया था और 'प्रबुद्ध भारत' में उनके अनेक लेख प्रकाशित हुए थे। स्वामी तुरीयानन्दजी समझते थे कि उनके द्वारा अमेरिका में वेदान्त का प्रभावी प्रचार हो सकता है और इसलिए उन्होंने अनेक बार स्वरूपानन्द को अमेरिका आने के लिए निमंत्रित भी किया, पर वे भारत छोड़ने के लिए सहमत नहीं हो पाये। उन्होंने अपना सारा जीवन श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के प्रचार में लगा दिया। उन्हें छात्रों से बड़ी आशाएँ थीं। वे कहा करते

थे-- "मेरी भविष्य की समस्त आशा छात्रों पर ही केन्द्रित है।" वे सदैव छात्रों को राजनीति, यश और मान आदि से विरत कर त्याग की शिक्षा दिया करते।

स्वामी स्वरूपानन्द मायावती आने के पश्चात् केवल दो बार बेलुड़ मठ जा पाये थे। अन्तिम बार सन् १९०५ में जब वे वहाँ थे, तो चिकित्सकों ने उनमें हृदयदौर्बल्य के लक्षण देखे थे तथा उन्हें पूर्ण विश्राम की सलाह दी थी। पर उन्हें 'प्रबुद्ध भारत' की बड़ी चिन्ता थी। सन् १९०५ई० की ५ जून को वे अलमोड़ा होते हुए नैनीताल पहुँचे। रास्ते में वे वर्षा से भीग गये थे। दूसरे ही दिन उन्हें ज्वर हो आया। पर इसकी चिन्ता न कर वे समागत भक्तों और जिज्ञासुओं से धर्मचर्चा करते रहे। ज्वर क्रमशः निमोनिया में बदल गया। स्वरूपानन्द की पूरी शुश्रूषा की गयी, पर इस पृथ्वी पर उनका कार्य तो पूरा हो चुका था। २१ जून, १९०५ ई० को दोपहर २ बजे वे महानिद्रा में लीन हो गये। स्वरूपानन्द के महान् कर्मठ और आध्यात्मिक व्यक्तित्व के असामयिक निधन से हतप्रभ होकर स्वामी सारदानन्दजी ने लिखा था-- "फूल खिला। भ्रमर भी नित्य मधु-लोभ से आने लगे। पर सहसा वह फूल हिमपात से मुरझा गया। हे देवि! जगन्माते! क्या तुमने ऐसा सोचकर कि उस अपूर्व प्रसून की महिमा को नरलोक समझ न पायेगा, उसे स्वयं अपने केशों में धारण कर उसका गौरव बढ़ाया है?"

सोवै सुख भरोसे एक राम के

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

जब कोई साधक साधना में प्रवृत्त होता है और जब साधना सफल होती नहीं दिखायी पड़ती, तो उसके मन में संशय उत्पन्न होता है कि शास्त्रों में, उपनिषदों में, पुराणों में जो कुछ लिखा है वह ठीक है या नहीं; वह सब व्यर्थ तो नहीं है। वह संशय-विपिन में---संशय के जंगल में भटकने लगता है। यह रामायण की सांकेतिक भाषा है। आप देखेंगे कि रामचरितमानस में जहाँ भगवान् राम की कथा होगी, वहाँ वटवृक्ष अवश्य होगा। चाहे शंकरजी पार्वती को कैलास में कथा सुना रहे हों, अथवा काकभुशुण्डिजी गरुड़ को, या याज्ञवल्क्यजी भरद्वाज को, प्रत्येक जगह वटवृक्ष अवश्य है। बिना उसके कथा हो नहीं सकती। यह वटवृक्ष क्या है ?

बटु बिस्वास अचल निज धरमा ।

---यह जो अचल विश्वास है वही वटवृक्ष है।

एक मीठा व्यंग्य आता है। भगवान् राम को सीता के विरह में साधारण मनुष्य की नाईं रोते देख सतीजी के मन में बड़ा संशय उठा। शंकरजी ने उन्हें समझाने की कोशिश की। पर उनकी समझ में नहीं आया। तब शंकरजी ने कहा---अच्छा, जब तुम्हारे मन में इतना सन्देह है तो जाकर परीक्षा ले लो---

जौं तुम्हरें मन अति सन्देहू ।
तौ किन जाइ परीछा लेहू ।।

सती ने कहा——मुझे अकेले क्यों भेजते हैं ? आप भी चलिये न ।

शंकरजी ने व्यंग्य किया——नहीं, इस जंगल में तुम्हीं जाओ । तुम्हें ही तो परीक्षा लेनी है ।

——आप क्या करेंगे ?

——जब तक तुम परीक्षा लोगी, हम वट की छाँह में बैठेंगे——'तब लगि बैठ अहउँ बटछाहीं ।'

व्यंग्य यह था कि जब तक तुम संशय के वन में भटकोगी, मैं विश्वास की छाया तले विश्राम करूँगा । यही हमारे-तुम्हारे भाग्य का अन्तर है । और हुआ भी यही । सतीजी जब प्रभु के निकट पहुँचीं, तो जानकीजी का रूप बना लिया । प्रभु ने जब उन्हें देखा, तो पहला काम यह किया——

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू ।
पिता समेत लीन्ह निज नामू ।।

——मैं, महाराज दशरथ का पुत्र, आपको प्रणाम करता हूँ ।

भगवान् शंकर ने पहले जब भगवान् राम को प्रणाम किया था तो सतीजी को बड़ा बुरा लगा था——यह सोच-कर कि सारा संसार तो शंकरजी की पूजा करता है और ये स्वयं एक राजा के लड़के को प्रणाम कर रहे हैं । पर अब भगवान् राम ने स्वयं सतीजी को प्रणाम किया । उसका तात्पर्य यह था कि जब शंकरजी ने राजा के

लड़के को प्रणाम किया था, तब आपको दुख हुआ था। अब वही राजा का लड़का आपको प्रणाम कर रहा है। अतः प्रसन्न हो जाइए। साथ ही अगला प्रश्न भगवान् ने और पूछ लिया--

कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू।
बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥

--आप अकेली यहाँ क्या कर रही हैं ? शिवजी कहाँ हैं ? संशय के जिस वन में बड़े बड़े विद्वान् भटक जाते हैं, वहाँ आप अकेली किसलिए फिर रही हैं ? और फिर आपने विश्वास का साथ छोड़ दिया ! यह कैसी भूल कर दी आपने ? यह बड़ा अनर्थ हो गया। मुझे तो बड़ा भय लग रहा है।

यह संशय मनुष्य का नाश कर देता है। बन्दर भी सीताजी की खोज करने जाकर संशय के वन में भटक गये--'बन गहन भुलाने'। उनमें केवल एक ही ऐसे थे जिनमें संशय नहीं था; वे थे हनुमानजी। हनुमानजी समझ गये कि इस संशय-वन में भटकर सब प्यासे मर जायेंगे--

मन हनुमान कीन्ह अनुमाना।
मरन चहत सब बिनु जल पाना॥

उन्होंने बन्दरों से कहा कि आप लोग घबराइए नहीं, हम जल खोजते हैं। वे पहाड़ के ऊपर चढ़ गये। वहाँ से उन्होंने देखा कि एक कन्दरा है, जहाँ से जल के पक्षी आ-जा रहे हैं। वे बन्दरों के पास लौटकर बोले--ऐसा जान पड़ता है कि उस कन्दरा में

जल है; आइए, चलें। अंगद ने कहा--नहीं, हम आगे आगे नहीं चलेंगे; न जाने भीतर कौन बैठा हो। यह गुफा कौनसी है? यह है कृपा की गुफा। बन्दर हैं साधक। सारा पुरुषार्थ समाप्त कर वे इस कृपा-गुफा के निकट पहुँचे हैं। इस गुफा में स्वयंप्रभा रहती है। स्वयंप्रभा वह है जिसमें स्वयं का प्रकाश है। घी, तेल आदि के द्वारा जो प्रकाश होता है, वह स्वयंप्रभा नहीं है। साधना का जो विमल प्रकाश है, वही स्वयंप्रभा है। बन्दर अन्दर जाते हैं। स्वयंप्रभा को प्रणाम करते हैं। स्वयंप्रभा कहती है--तुम लोग जल पीओ, कन्द-मूल-फल खाओ। बन्दर खा-पीकर स्वयंप्रभा के पास बैठते हैं।

स्वयंप्रभा पूछती है--तुम लोग उदास क्यों हो?

बन्दर कहते हैं--माताजी! क्या बतायें आपको! हम लोगों ने जानकीजी को पाने का बड़ा प्रयास किया, पर उनके दर्शन नहीं हुए।

स्वयंप्रभा एक बात पूछतीं है--अच्छा, तुम लोगों ने जानकीजी को कैसे ढूँढ़ा? आँखें बन्द करके, न आँखें खुली रखकर?

अब बन्दर बड़े परेशान हुए। बोले--क्या आप समझती हैं कि हम लोग अन्धों की तरह घूमते रहे हैं? हमारी आँखें सदा ही खुली रही हैं। हम लोग क्षण भर के लिए भी सोये नहीं; न दिन में, न रात में।

स्वयंप्रभा ने मुसकराकर कहा--इसीलिए तो जानकीजी तुम लोगों को मिलीं नहीं। अब मेरी एक सलाह मानो।

--क्या ?

--अब जरा आँखें मूँदकर खोजो। सीताजी को पा जाओगे--

मूदहु नयन बिबर तजि जाहू।
पैहहु सीतहि जनि पछिताहू ॥

यह रामायण साधारण ग्रन्थ नहीं है। लोग प्रायः कहा करते हैं कि रामायण सामान्य लोगों के लिए है और गीता विशिष्ट लोगों के लिए। हमें उनकी बुद्धि पर तरस आता है। वास्तव में दोनों ही ग्रन्थ महान् हैं। दोनों ही साधारण से साधारण लोगों के लिए हैं और विशिष्ट से विशिष्ट लोगों के लिए भी। भले ही साधारण व्यक्ति गीता को न समझ पाये, पर मानस की विशेषता यह है कि साधारण से साधारण व्यक्ति भी उसका पाठ कर सकता है, और विशिष्ट व्यक्ति तो चाहे जितनी गहराई में जा सकता है।

अव यह विचित्र-सी बात लगती है कि सीताजी को ढूँढ़ने के लिए आँखें बन्द करनी पड़ेंगी। पर बात बिल्कुल ठीक है। आँखें खुली रखना और आँखें बन्द करना इन दोनों का जीवन में बड़ा महत्त्व है। आँखें खुली रखने का तात्पर्य है--विवेक और पुरुषार्थ को प्रकट करना। जब हम मार्ग पर चलते हैं तो बीच बीच में यह भी देखते जाते हैं कि हम ठीक रास्ते पर चल रहे हैं अथवा नहीं। साधना के पथ पर विवेक और पुरुषार्थ को हमेशा जागरूक बनाये रखना पड़ता है। पर जीवन में जितना

महत्त्व आँखें खुली रखने का है, उतना ही आँखों को बन्द करने का भी है; जितना महत्त्व बुद्धि का है, विश्वास का उससे कुछ कम नहीं। आँखें मूँदने का तात्पर्य है--समर्पण, शरणागति, ईश्वर के प्रति निवेदन। आप बाहर में तो भक्ति पाने का प्रयास करते हैं, पर साथ ही यह देखना भी आवश्यक है कि भीतर में भक्ति की खोज हो रही है या नहीं। आप जानकीजी को तो पाना चाहते हैं, पर उसके लिए यह जानना जरूरी है कि अपने अन्तरंग में आप प्रवेश कर सकते हैं या नहीं। आँखें मूँदने में इतना रहस्य छिपा हुआ है कि जीवन के हर क्षेत्र में आँखें मूँदनी पड़ती हैं। चाहे ज्ञान का क्षेत्र हो, चाहे भक्ति का, चाहे कर्म का--सभी में आँखें मूँदनी पड़ती हैं, और फिर ध्यान में तो आँखों का मूँदना ही मूँदना है। ज्ञानी के आँख बन्द करने का तात्पर्य है--समस्त विश्व को प्रपंच मान उसके मिथ्यात्व का निश्चय करना और ऐसा निश्चय कर आत्मतत्त्व की अनुभूति करना। भक्त को भी नेत्र बन्द करना पड़ता है, क्योंकि--

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

--नेत्रों के मार्ग से प्रभु को हृदय में बिठाकर पलक-किवाड़ बन्द कर देना होता है। कई लोग भगवान् को देखने का दावा तो करते हैं, पर किवाड़ खुला रखते हैं। किवाड़ खुला रहने से तो भीतरवाला बाहर चला जायेगा

और बाहरवाला भीतर आ जायेगा। होना यह चाहिए कि प्रभु को अन्तःकरण में लाने के बाद किवाड़ बन्द कर दिया जाय, ताकि न तो भगवान् बाहर निकलकर जा सकें और न बाहर की कोई वस्तु भीतर आ सके।

फिर, व्यवहार में भी आँख मूँदना सीखना चाहिए। व्यवहारवादी आँखें खोलना तो जानते हैं, पर मूँदना नहीं जानते, इसलिए बड़ा दुख पाते हैं। कई लोग ऐसे होते हैं जो दिनरात दुखी ही रहते हैं, परेशान रहते हैं। क्यों ? इसलिए कि वे बेचारे आँखें ज्यादा खुली रखते हैं। जिधर देखते हैं, उन्हें बुरा ही बुरा नजर आता है। उनसे चर्चा कीजिए तो दिनरात रोना ही रोना है। तनिक भी शान्ति नहीं। यह बड़ा बुरा स्वभाव है। संसार दुख का आगार बन जाता है। एक पण्डितजी थे, बड़े वृद्ध। उनका यही स्वभाव था। जब देखो तब रोना। अगर किसी दिन भोजन बढ़िया न बने, किसी कारणवश रसोइये से भूल हो जाय, तो उसे दे फटकार। उसे फटकारकर ही शान्त नहीं रह जाते थे, दिन भर ऐसा मुँह बनाये रहते थे कि कुछ मत पूछिये। अगर किसी ने पूछ दिया—पण्डितजी ! आज क्या बात है ? तो बोलेंगे—अरे क्या बतायें, कम्बख्त रसोइया ऐसा बेवकूफ है कि उसने आज सत्यानाश कर दिया। और वे अपना दुख सारे दिन बाँटते फिरेंगे। उनकी विचित्रता तो यह थी कि यदि दूसरे दिन भोजन बढ़िया भी बन जाय, तो भी वे प्रसन्न नहीं होते थे। बल्कि रसोइये पर बिगड़ते—

नालायक ! कल तूने ऐसा भोजन क्यों नहीं बनाया ? भोजन बिगड़ा तो भी रोते और अच्छा बना तो भी। अब ऐसे दुख का क्या उपाय है ? कुछ लोग ऐसे ही होते हैं। ये अपनी आँखें ऐसे विचित्र तरीके से खोले रखते हैं कि जिधर देखते हैं, उन्हें बुराई ही बुराई नजर आती है। उन्हें ऐसा नहीं लगता कि संसार में कुछ अच्छा भी है, उसमें कुछ रस भी है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार में हर बात को आँखें खोलकर देखने की कला ही नहीं, बल्कि आँखें मूँदकर देखने की कला भी जाननी चाहिए।

लक्ष्मणजी ने परशुराम से बहुत बढ़िया बात कही थी। लक्ष्मण और परशुराम का संवाद बालक और बूढ़े का संवाद है। परशुराम बूढ़े हैं और लक्ष्मण बालक। पर सत्य क्या है ? लक्ष्मणजी ज्ञान में स्थिर हैं, परशुराम जी ज्ञान से दूर हैं। दोनों में वार्तालाप हो रहा है और परशुरामजी लक्ष्मण पर रुष्ट हो रहे हैं। इतने क्रोधित हो रहे हैं कि सबको बुलाकर ढिंढोरा पीटते हैं। परशुराम पहले राम पर बड़े प्रसन्न हुए थे। उनसे कहा था कि तुम बड़े सज्जन हो, पर तुम्हारा छोटा भाई बड़ा बुरा है——

सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही।
नीचु मीचु सम देख न मोही॥

——यह स्वभाव से ही टेढ़ा है। तुम्हारा अनुकरण नहीं करता। इस पर भगवान् राम तो कुछ बोले नहीं, पर लक्ष्मणजी ने आगे बढ़कर कहा——

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया ।
परिहरि कोपु करिअ अब दाया ।।

--मुनिवर ! मैं तो आपका अनुयायी हूँ । अगर टेढ़ापन बुरा है, तब तो आपको भी उसे त्याग देना चाहिए और अगर अच्छा है, तब आपका अनुयायी होना भी अच्छा है । अगर मुझमें टेढ़ापन है, तो आपको नाराज नहीं होना चाहिए । आप टेढ़ापन छोड़िए, मैं भी छोड़ दूँगा । आप स्वयं टेढ़ापन स्वीकार करें और दूसरों को बुरा कहें, यह कहाँ तक ठीक है ?

परशुरामजी बड़े बिगड़े । वार्तालाप बिगड़ता ही गया । भगवान् राम बीच बीच में शान्त करने की चेष्टा करते हैं । वे परशुरामजी से एक ही बात कहने की कोशिश करते हैं कि महाराज, यह बालक है । इस पर रुष्ट मत होइए ।

--क्यों ?

--इसलिए कि--

जौं पै प्रभु प्रभाउ कछु जाना ।
तौ कि बराबरि करत अयाना ।।

--अगर यह आपका प्रभाव जानता होता, तो क्या यह नासमझ बालक आपकी बराबरी कर सकता था ?

--फल क्या हुआ?

राम बचन सुनि कछुक जुड़ाने ।

--भगवान् की बात सुन मुनि थोड़े शान्त हुए । और तब?

कहि कछु लखनु बहुरि मुसुकाने ।।

——लक्ष्मणजी ने फिर कुछ कह दिया और मुसकराने लगे। जब भगवान् राम ने मुनि से यह कहा था कि यह बालक नासमझ है, अयाना है और आपका प्रभाव नहीं जानता है, तो परशुरामजी को लगा था कि राम लक्ष्मण की निन्दा कर रहे हैं और मेरी प्रशंसा कर रहे हैं। इसलिए वे प्रसन्न हुए। पर यह देख लक्ष्मणजी मुसकराकर बोले——मैं समझ गया, आपको भाषाशास्त्र का जरा भी ज्ञान नहीं है। अगर ज्ञान होता तो समझ जाते कि भगवान् की भाषा का क्या अर्थ है। उनके शब्दों को सुनकर आप समझ रहे हैं कि यह आपकी प्रशंसा हो रही है। पर बात ऐसी नहीं है। इनकी भाषा आप समझ नहीं पा रहे हैं और मनमाने अर्थ लगाये जा रहे हैं। और दूसरी बात लक्ष्मणजी ने यह कही कि आपको गणित का भी ज्ञान नहीं है। भाषाशास्त्र में तो आप दुर्बल हैं ही, गणित में भी दुर्बल हैं। कैसे? जब परशुराम ने बिगड़कर कहा——

न त एहि काटि कुठार कठोरें।
गुरहि उरिन होतेउँ श्रम थोरें॥

——जानता नहीं, यह फरसा है? मैं अभी तुझे काट डालूँगा और थोड़े ही परिश्रम से गुरुऋण से मुक्त हो जाऊँगा। लक्ष्मणजी ने सिर झुकाकर कहा——महाराज! यदि काट सकते हैं तो काटते क्यों नहीं? फरसा आपके हाथ में है और मैं भी सामने हूँ। परशुरामजी ने कहा——क्या बतायें, काट तो डालता, पर——

बहइ न हाथु दहइ रिस छाती ।

--मेरा हाथ नहीं चल रहा है । फरसा उठ नहीं रहा है। लक्ष्मणजी हँसे; बोले--बात यह है कि फरसे ने मुझे पहिचान लिया, पर आप मुझे नहीं पहिचान पा रहे हैं ।

बात यह थी कि लक्ष्मणजी हैं शेषावतार । गणित में भाग देने के पश्चात् जो बच रहता है, उसे शेष कहते हैं। लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह था कि महाराज, अगर आप शेष को भी काटने की चेष्टा करें, तब तो यही कहना पड़ेगा कि आपको गणित नहीं आता । जो अवशिष्ट है, वह भला कैसे कटेगा ? इसका तात्त्विक अर्थ यह है कि यह सृष्टि है अंक और काल है विभाजक । काल के द्वारा लोग निरन्तर कट रहे हैं, मर रहे हैं। और कटने के बाद जो बचा रह जाय, वह है शेष तत्त्व । लक्ष्मण कालतत्त्व का शेष भाग हैं, जो कभी कटता नहीं। लक्ष्मणजी को यह सोचकर हँसी आयी कि इनको काटने का ऐसा अभ्यास पड़ गया है कि जिन वस्तुओं को नहीं काटना चाहिए, उन्हें भी ये काट डालना चाहते हैं। ये तो राम को भी काट डालना चाहते हैं जो कि अखण्ड हैं--

ग्यान अखंड एक सीताबर ।

--ये अखण्ड को भी खण्डित करना चाहते हैं। यह हुई एक नासमझी और फिर दूसरी नासमझी यह कि शेष को काटना चाहते हैं! लक्ष्मणजी को यह सोचकर और भी हँसी आयी कि ये न केवल दूसरों को ही काटते हैं,

वरन् अपने आप को भी काटे जा रहे हैं। प्रसंग आता है कि जब जानकीजी ने आकर उन्हें प्रणाम किया था, तो उन्होंने आशीर्वाद दिया था--'सौभाग्यवती भव'--

आसिष दीन्हि सखीं हरषानी ।

लक्ष्मणजी यह सोचकर हँसे कि देखो, स्वयं ही तो सीताजी को आशीर्वाद देते हैं--'सौभाग्यवती भव', और अब भगवान् राम को काटने की बात कह रहे हैं। इस प्रकार अपने आशीर्वाद को स्वयं काटने की कोशिश कर रहे हैं। इनको काटने में इतना रस आ गया है कि ये जान ही नहीं पा रहे हैं कि वे स्वयं अपने ही आधार को काट रहे हैं।

लक्ष्मणजी का व्यंग्य यह था कि एक तो आपको गणित का रंचमात्र भी ज्ञान नहीं, इसलिए जिन वस्तुओं को नहीं काटना चाहिए उन्हें भी काटने की चेष्टा कर रहे हैं और दूसरा यह कि आपको भाषा भी ज्ञात नहीं। भगवान् राम ने लक्ष्मण के लिए तीन शब्द कहे कि यह बालक है, अयाना है और आपके प्रभाव को नहीं जानता है। वास्तव में, इन तीनों में लक्ष्मणजी की प्रशंसा ही है और परशुरामजी की निन्दा। यदि परशुराम सचमुच में भगवान् राम की भाषा समझ पाते, तो कभी प्रसन्न न होते। भगवान् राम ने कहा--यह बालक आपका प्रभाव नहीं जानता। सुनने से ऐसा लगता है कि परशुरामजी की प्रशंसा हो रही है। पर ऐसी बात नहीं। लक्ष्मणजी उनका प्रभाव क्यों नहीं जानते ?

प्रसंग आता है, जब जनकपुर के दूतों से महाराज दशरथ ने पूछा--बताओ, क्या तुमने हमारे पुत्रों को स्वयं अपनी आँखों से देखा है ?--

भैआ कहहु कुसल दोउ बारे ।
तुम्ह नीकें निज नयन निहारे ।।

तो दूतों ने हँसकर कहा--महाराज ! आप हमसे पूछ रहे हैं कि हमने आपके पुत्रों को देखा या नहीं । अरे, हमने तो आपके पुत्रों को ऐसा देखा कि दृष्टि से और कुछ दिखायी देना ही बन्द हो गया--

देव देखि तव बालक दोऊ ।
अब न आँखि तर आवत कोऊ ।।

--आपके पुत्रों को देखने के बाद तो इस संसार में कुछ दिखायी ही नहीं पड़ता ।

लक्ष्मणजी को परशुराम का प्रभाव दिखायी क्यों नहीं पड़ता ? इसलिए कि वे प्रभु का प्रभाव जानते हैं--

कहि न सकत कछु अति गंभीरा ।
प्रभु प्रभाउ जानत मतिधीरा ।।

और जो प्रभु का प्रभाव जानता है, वह सम्पूर्ण का प्रभाव जानता है । जो सूर्य का प्रभाव जानता है, वह क्या जुगनू और तारों का प्रभाव जानना चाहेगा ? जो हीरे का व्यवहार जानता है, उसके लिए क्या यह जानना जरूरी है कि काँच का दाम कितना है ? और अगर हीरे का व्यवहार करनेवाला काँच का दाम न बता पाये, तो क्या आप कहेंगे कि वह बड़ा नासमझ है ? भगवान् ने कहा कि

महाराज, यह आपका प्रभाव नहीं जानता। और लक्ष्मण जी का व्यंग्य यह था कि जरा मुझसे यह भी तो पूछ लीजिए कि मैं किसका प्रभाव जानता हूँ। मैं कुछ जानता भी हूँ या नहीं ? परशुराम भगवान् की बात नहीं समझ पाते। वे नहीं समझ पाते कि भगवान् जिसे बालक कह दें, वह उसकी बड़ी प्रशंसा है। प्रसंग आता है, नारद ने भगवान् से पूछा था--आपने मेरा विवाह क्यों होने नहीं दिया ? प्रभु बोले--

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही।

--ज्ञानी मेरा बड़ा पुत्र है। भक्त छोटा पुत्र है। नारद ! तुम मेरे छोटे बालक हो। छोटा बालक मुझे सबसे प्यारा है। मैं सदा उसकी रक्षा करता हूँ। जो छोटा बालक है, उसे मेरा ही बल रहता है और बड़ा बालक अपने बल पर रहता है। भगवान् राम ने कहा कि लक्ष्मण बालक है। वे परशुराम से मानो यही कहना चाहते हैं कि महाराज, आपको अपने बल का विश्वास है, जबकि लक्ष्मण को मेरे बल का आसरा है।

परशुरामजी कहते हैं--जनक ! याद रख--

उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू।

--जहाँ तक तेरा राज्य है, मैं उसे उलट दूँगा। मुझमें इतना बल है ! और लक्ष्मणजी भी कहते हैं कि मैं सारे ब्रह्माण्ड को उलट दूँगा, लेकिन किसके बल पर ?--

तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ ।

--प्रभो ! आपके प्रताप के बल पर । परशुरामजी को अपने बल का विश्वास है, जबकि लक्ष्मणजी को प्रभु के बल का, क्योंकि वे बालक जो हैं । बालक कहकर भगवान् राम ने लक्ष्मणजी की प्रशंसा ही की । भगवान् के शब्द-कोश में बालक प्रशंसा का और अयाना सबसे बड़ी प्रशंसा का द्योतक है । संसार के शब्दकोश में भले ही अयाना शब्द नासमझी का, निन्दा का सूचक है, पर भगवान् के शब्दकोश में ठीक उल्टी बात है ।

काकभुशुण्डिजी ने भगवान् राम से कहा--प्रभो ! आपसे जो भी मिलता है, आप उसकी प्रशंसा कर देते हैं । कभी कहते हैं कि आपको भरत बड़े प्यारे हैं, कभी बन्दरों से कहते हैं कि तुम सब मुझे भरत से भी अधिक प्यारे हो । कभी यही बात जानकीजी के लिए कहते हैं, तो कभी और किसी के लिए । आपको सही में प्यारा कौन है ? भगवान् ने कहा कि जैसे एक पिता के कई पुत्र होते हैं और पिता को जैसे सभी पुत्र प्यारे होते हैं, वैसे ही मुझे भी सबके सब प्यारे हैं--

एक पिता के बिपुल कुमारा ।
होहिं पृथक गुन सील अचारा ।।
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता ।
कोउ धनवंत सूर कोउ दाता ।।
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई ।
सब पर पितहि प्रीति सम होई ।।

काकभुशुण्डिजी ने कहा——पर इन सबमें कोई न कोई तो अधिक प्यारा होगा ? आपको सबसे अधिक प्यारा कौन है ?

भगवान् ने कहा——ठीक कहते हो। मुझे एक पुत्र सबसे अधिक प्यारा है।

——कौन ?

——जो लड़का सब प्रकार से अयाना है, नासमझ है, वही मुझे सबसे अधिक प्यारा है——

कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा।
सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना।
जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥

इसीलिए जब भगवान् श्रीराम ने कहा कि लक्ष्मण मेरा अयाना बालक है, नासमझ है, तो लक्ष्मणजी प्रसन्न हो गये, और परशुरामजी भी यह सोचकर प्रसन्न हुए कि मेरी प्रशंसा हो रही है तथा लक्ष्मण की निन्दा। पर परशुराम के मनोभाव को भाँपकर लक्ष्मणजी हँसने लगे——यह कहकर कि मुनिवर, आप भगवान् की भाषा जानते नहीं हैं इसीलिए प्रसन्न हो रहे हैं। और इनकी हँसी देख परशुरामजी के तन-बदन में आग लग गयी। स्थिति बिग-डती ही गयी। अन्ततोगत्वा बड़े ही रुष्ट हो वे बोले——इस लड़के को मेरी आँखों के सामने से हटा दो——

बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा।
देखत छोट खोट नृप ढोटा॥

पर किसमें साहस है जो लक्ष्मणजी को पकड़कर दूर कर सके ? लक्ष्मणजी मुसकराकर हँस पड़े और व्यंग्य करते हुए बोले——मुनिवर ! उपाय तो बड़ा सरल है, अगर आप कर सकें तो ।

——क्या है वह उपाय ?

बिहसे लखनु कहा मन माहीं ।
मूदें आँखि कतहुँ कोउ नाहीं ।।

——अगर आप आँख बन्द कर लें तो लक्ष्मण आप से आप दूर हो जायेगा और अगर आँखें खुली रहीं तो लक्ष्मण सामने रहेगा ही । लक्ष्मणजी का संकेत यह था कि आपने सदा आँखें खोलने को ही महत्त्व दिया । आपको आँख मूँदना नहीं आया । अब आप मेरी बात मानिए । आँखें जरा बन्द कर लीजिए। तब आपको लक्ष्मण नहीं दिखायी देगा और तब आपकी दृष्टि अन्त:करण में पड़ेगी तथा आप जान पायेंगे कि आप किससे बातचीत कर रहे हैं ।

अतएव चाहे ज्ञान का क्षेत्र हो या भक्ति का, कर्म का हो या ध्यान का, सभी क्षेत्रों में नेत्रों को बन्द करने की आवश्यकता है । कोई बड़ा से बड़ा बुद्धिमान क्यों न हो, वह कितना ही आँख खोलकर क्यों न चले, उसे भी आँख बन्द करना सीखना ही पड़ेगा । बड़ा बुद्धिमान भी यदि यह निर्णय करे कि वह रात में नहीं सोयेगा, तो देखिए उसकी रात में क्या दशा होती है । आँखें खुली रखने के लिए भी आँखें बन्द करने की आवश्यकता है ।

आँखें बन्द करने का तात्पर्य यह है कि जब अपना बल समाप्त हो जाय, योग्यता शेष हो जाय, क्षमता की इतिश्री हो जाय, तो भगवान् की शरण में चले जाइए। उनसे निवेदन कीजिए कि प्रभो ! जितनी हमारी क्षमता थी हमने कार्य किया, पुरुषार्थ किया; इसके बाद जो कुछ करना है, सब आपके हाथ में है। आँखें मूँदने का गोस्वामीजी पूरा समर्थन करते हैं।

गोस्वामीजी वृन्दावन में नाभादास के आश्रम में पहुँचे। बड़े थके हुए थे। वहीं लेट गये। नाभादास थोड़ी देर बाद लौटे। देखा कि कोई लेटा हुआ है। उन्होंने पूछा—कौन सोया है? और जब यह पता चला कि लेटनेवाले तो उनके परम मित्र गोस्वामीजी महाराज हैं, तो बड़े प्रसन्न हुए। हँसते हुए जरा व्यंग्य के स्वर में बोले—आप जैसे सन्त जो सारे संसार को जगाने आये हैं, खुद सो रहे हैं यह कैसी बात है ? क्या होगा संसार का ? गोस्वामीजी उठकर बैठ गये और हँसते हुए बोले—क्या बढ़िया नींद आ रही थी। आपने व्यर्थ जगा दिया।

मित्र ने कहा—आप महात्मा होकर भी सोने का समर्थन करते हैं ? लोग कैसे जागेंगे ? आप तो लोगों को जगाने आये हैं।

गोस्वामीजी बोले—नहीं, मैं जगाने नहीं, मैं तो लोगों को सुलाने आया हूँ। मैं स्वयं सोता हूँ और लोगों को सोना सिखाता हूँ। जागनेवाले तो ये लोग हैं—

जागैं जोगी जंगम जती जमाती ध्यान धरैं,

डरैं उर भारी लोभ मोह कोह काम के,
जागैं राजा राजकाज, सेवक समाज साज,
सोचैं सुनि समाचार बड़े बैरी बाम के,
जागैं बुध विद्याहित पण्डित चकित चित,
जागैं लोभी लालच धरनि धन धाम के,
जागैं भोगी भोगही, बियोगी रोगी सोगबस।
--तो, सोता कौन है ?
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के !

गोस्वामीजी ने कहा कि हमें तो भगवान् की गोद प्राप्त हो चुकी है, अतएव हम आनन्द से उनके आश्रय में सोते हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि गोस्वामीजी आलसी थे और पलंग पर पड़े रहते थे। सोने का तात्पर्य है जीवन में विश्वास का उदय होना। तभी तो स्वयंप्रभा बन्दरों से कहती है कि तुम लोगों ने आँखें खुली रखकर जानकीजी को बहुत ढूँढ़ा। ढूँढ़ते ढूँढ़ते थक गये हो। अब हमारी सलाह मानो। जरा आँखें मूँद लो। स्वयंप्रभा मिली कब ? जब बन्दर एक महीने तक कठोर प्रयास करते करते चूर चूर हो गये, जब वे पूरी तरह हताश हो गये तब कहीं स्वयंप्रभा से भेंट हुई और उसने उन्हें आँख मूँदने के लिए कहा। यदि इस प्रयत्न के पहले ही उनसे आँख मूँदने को कहा जाता तो उन्हें अच्छा न लगता, और वे स्वीकार भी न करते। पर थकने के बाद आँखें अनायास ही मुँदने लगती हैं। न कहने से भी व्यक्ति

सोने लगता है। बन्दरों ने आँखें मूँदीं और वे जानकी-जी की खबर पाने में समर्थ हुए। तात्पर्य यह है कि पहले व्यक्ति को अपनी पूरी शक्ति के साथ, पूरे पुरुषार्थ के साथ कर्म करना चाहिए और जब उसे लगे कि वह पूरी तरह थक गया है, उसकी सारी क्षमता समाप्त हो गयी है, तो फिर प्रभु की शरण गहनी चाहिए, अपने आपको प्रभु के प्रति समर्पित कर देना चाहिए। तब वह देखेगा कि भगवान् की कृपा उसे अनायास ही प्राप्त हो रही है।

●

हमारी सांस्कृतिक धरोहर

गीता प्रवचन–१७

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

श्रीभगवानुवाच––

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ २/११॥

(श्रीभगवान्) श्रीभगवान् (उवाच) बोले––

(त्वम्) तू (अशोच्यान्) जो शोक करने योग्य नहीं उनके लिए (अन्वशोचः) शोक कर रहा है (च) और [साथ ही] (प्रज्ञावादान्) ज्ञान की बड़ी बड़ी बातें (भाषसे) बोल रहा है [किन्तु] (पण्डिताः) पण्डितजन (गतासून्) जिनके प्राण चले गये उनके लिए (अगतासून्) जिनके प्राण नहीं गये उनके लिए (च) और (न) नहीं (अनुशोचन्ति) शोक नहीं करते।

"श्रीभगवान् बोले—जिनके लिए शोक करना उचित नहीं उनके लिए तू शोक कर रहा है और साथ ही ज्ञान की बड़ी बड़ी बातें भी बघारे जा रहा है; परन्तु जो यथार्थ में ज्ञानीजन होते हैं वे न तो उनके लिए शोक करते हैं जिनके प्राण चले गये हैं और न उनके लिए ही जिनके प्राण नहीं गये हैं।"

गीता का वास्तविक उपदेश यहीं से प्रारम्भ होता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसके पूर्व पहले अध्याय के रूप में जो भूमिका प्रस्तुत की गयी, वह अर्थहीन हो। उसका भी विशेष महत्त्व है। किसीभी वस्तु की प्राप्ति के लिए मनुष्य में पहले विषाद होना जरूरी है। बिना विषादके आकुलता नहीं उपजती, और बिना आकुलता के न धन मिलता है, न मोक्ष। अर्जुन का एक अर्थ यह भी हो सकता है जो अर्जन करे। और अर्जन करनेवाले को तो विषाद आवश्यक ही है। अर्जुन ज्ञान का, समस्त बन्धनों से मुक्ति का अर्जन करना चाहता है, अतएव इस अर्जन से पूर्व उसके हृदय में आकुलता का उपजना आवश्यक है। यह आकुलता ही प्रथम अध्याय में 'विषादयोग' के रूप से वर्णित है।

अर्जुन ने अपने को व्याकुलता के द्वारा ज्ञानप्राप्ति के लिए तैयार किया, और भगवान् उसे ज्ञान का पहला पाठ सिखाते हैं। जब हममें ज्ञान को पाने की उमंग होती है, तो उस उमंग में हम यह निश्चय नहीं कर पाते कि वस्तुतः ज्ञान क्या है और अज्ञान क्या है। हम कहीं पर पढ़ी, किसी से सुनी या परम्परा से चली आयी बातों को ज्ञान का सार मान लेते हैं। और हम अपने इस प्रकार प्राप्त ज्ञान के प्रति

इतने आग्रहवान् हो जाते हैं कि उसे अज्ञान समझना तो दूर, हमें अपने गुरुजनों के विवेक पर ही शंका होने लगती है, जो हमें यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि वह वास्तव में ज्ञान न होकर हमारे पतन का कारण अज्ञान है। ऐसे समय ज्ञानदाता के प्रति हमारी अटूट श्रद्धा ही मोह-भ्रम जनित इस दुराग्रह से हमारी रक्षा कर सकती है। अर्जुन का मोह-भ्रम विकट है। यथार्थ ज्ञान तो अनात्म-सम्बन्धों से उत्पन्न समस्त बन्धनों को छिन्न कर देता है, पर अर्जुन जिसे ज्ञान समझ रहा था वह उसके पाशों को और भी सुदृढ़ बना देता है। तभी तो श्रीभगवान् उससे कहते हैं—'प्रज्ञावादांश्च भाषसे', तू प्रज्ञावादों को बोल रहा है। प्रज्ञावाद का क्या मतलब ? प्रज्ञा का अर्थ है बुद्धि। जब हम बुद्धि में उठनेवाले विचारों को एक विशिष्ट सीमा में बाँध देते हैं, यानी जब हम अपनी बुद्धि को किसी विशिष्ट विचारधारा के हाथ बेच देते हैं और उसका उपयोग पूर्वाग्रह या दुराग्रह से रहित चिन्तन के लिए न कर, अपने मन में पोषित प्रिय लगनेवाले विचारों के लिए करते हैं, तो यह प्रज्ञावाद कहलाता है। इस प्रज्ञा-वाद का लक्षण यह है कि हम मुँह से तो बड़ी बड़ी बातें कहेंगे, पर हमारे कार्य उन बातों के अनुरूप नहीं होंगे। कथनी और करनी का अन्तर प्रज्ञावाद का विशिष्ट लक्षण है। तभी तो श्रीभगवान् कहते हैं कि अर्जुन! तू प्रज्ञावादों को तो बोल रहा है, ज्ञान की बड़ी बड़ी बातें तो कर रहा है, पर तेरा कार्य इन बातों के

अनुरूप नहीं है। क्यों? इसलिए कि 'त्वम् अशोच्यान् अन्वशोचः'—तू उनके लिए शोक करता है जो शोक करने योग्य नहीं। तू पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के लिए शोक कर रहा है, पर जरा सोच, क्या ये शोक करने योग्य हैं? भौतिक दृष्टि से देख तो ये शूर-वीर और पराक्रमी हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से देख तो सदाचारी और पुण्यात्मा हैं। अतः उनके लिए शोक करने की तूने कौनसी बात देखी? तू पण्डितों की-सी बातें तो कर रहा है, पर तू क्या जानता नहीं कि जो वास्तविक ही पण्डित होते हैं, वे न तो 'गतासूनों' के लिए शोक करते हैं, न 'अगतासूनों' के लिए।

यहाँ पर ये दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। 'गतासून्' का अर्थ है जिनमें से असु यानी प्राण गत हो गये, अर्थात् मृत व्यक्ति और 'अगतासून्' का अर्थ है जिनमें प्राण अगत रहें, यानी जीवित व्यक्ति। इस प्रकार भगवान् मानो यह कहते हैं कि पण्डितजन मृत या जीवित व्यक्तियों के लिए शोक नहीं करते। मृत के लिए ज्ञानीजन इसलिए नहीं रोते कि मृत्यु ही संसार की नियति है; जब सबको एक दिन मृत्यु के कराल गाल में समाना ही है, तो अपरिहार्य के लिए क्यों रोयें? और जीवित की वे अनुशोचना इसलिए नहीं करते कि वे जानते हैं सारे प्राणी अपने अपने स्वभाव से परिचालित हो रहे हैं; वे जानते हैं कि—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

——सभी प्राणी अपने स्वभाव से परवश हुए कर्म करते हैं, ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा ? जब ऐसी बात है, तब विवेकी को मृत या जीवित किसी के लिए शोक नहीं करना चाहिए।

एक दूसरी दृष्टि से विचार करें, तो 'गतासून्' को शरीर का तथा 'अगतासून' को आत्मा का बोधक शब्द माना जा सकता है। 'गतासून्' का एक अर्थ यह किया जा सकता है जिसमें प्राणों का आना-जाना बना हो। जिसमें से प्राण गत होते हैं उसमें आगत भी होते हैं। शरीर में ही प्राणों की हलचल मालूम होती है, अतः 'गतासून्' का लक्षणार्थ 'शरीर' किया जा सकता है। इसी प्रकार, 'अगतासून्' वह है जिसमें प्राणों की कभी कोई पहुँच नहीं, प्राणों की हलचल नहीं। आत्मा में प्राणों की कोई क्रिया नहीं। अतएव 'अगतासून्' का अर्थ लक्षणा के द्वारा 'आत्मा' पकड़ा जा सकता है। और पण्डित उसे कहते हैं जिसकी बुद्धि आत्मविषयक हो। श्रीशंकराचार्य इस 'पण्डित' शब्द पर भाष्य करते हुए कहते हैं——'पण्डा आत्मविषया बुद्धिः येषां ते हि पण्डिताः' ——'आत्मविषयक बुद्धि का नाम पण्डा है और वह बुद्धि जिनमें हो वे पण्डित हैं।' इस तरह इस श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ यह हुआ कि जो आत्ममति रखनेवाले ज्ञानीजन हैं, वे न तो शरीर के लिए शोक करते हैं और न आत्मा के लिए। शरीर के लिए शोक करना इसलिए

अनुचित है कि वह एक-न-एक दिन तो नष्ट होगा ही, और आत्मा के लिए शोक इसलिए नहीं किया जा सकता कि वह कभी मरता ही नहीं। अर्जुन ! तू बातें तो ज्ञानी की-सी कर रहा है, पर तेरे आचरण अज्ञानी के-से हैं।

अर्जुन ने भगवान् की बातों पर विचार किया। उसने सोचा कि भगवान् ने भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य को जो शोक नहीं करने योग्य बताया सो तो ठीक है, पर मैं मात्र इन्हीं दोनों के लिए तो शोक नहीं कर रहा हूँ, मेरा हृदय तो इन सभी राजाओं के लिए भी रो रहा है। तो क्या ये राजागण भी अशोच्य हैं ? भगवान् कहते हैं--हाँ।

--कैसे ?

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥२/१२॥

(अहं) मैं (जातु) कभी (न आसं) नहीं था (न तु एव) न ही (त्वं) तू [न आसीः] [नहीं था] (न) न (इमे) ये (जनाधिपाः) राजागण [न आसन्] [नहीं थे] (न) न (अतःपरं) इसके बाद (वयं) हम (सर्वे) सब (न) नहीं (भविष्यामः) रहेंगे (च) भी (न एव) न ही।

"मैं किसी काल में नहीं था ऐसा नहीं, तू कभी नहीं था ऐसा नहीं, ये राजा लोग कभी नहीं थे ऐसा भी नहीं, और इसके बाद भी हम सब न होंगे ऐसा भी नहीं है (अर्थात् हम पहले भी थे, इस समय हैं और आगे भी होंगे)।"

श्रीभगवान् यहाँ पर कारण उपस्थित करते हैं कि राजागण शोक करने योग्य क्यों नहीं है। गीता का

उपदेश आत्मस्वरूप के ज्ञान से प्रारम्भ होता है, क्योंकि एकमात्र आत्मा का ज्ञान ही अज्ञान-भ्रम से उत्पन्न शोक को दूर कर सकता है। भगवान् इस श्लोक में जीव की नित्यता प्रदर्शित करते हैं। ईश्वर तो नित्य हैं ही, और जीव भी ईश्वरस्वरूप होने के कारण नित्य है। जीव की यह ईश्वरस्वरूपता अभी शरीरादि घेरे के कारण अप्रकट है, पर जिस समय साधक शरीर और मन द्वारा लादी गयी परिच्छिन्नता को भेदकर ऊपर उठता है, तो देखता है कि वह तो स्वरूपतः आत्मा ही है। अतः इस परिच्छिन्नता को दूर करना है, जो देहाभिमानादि से उत्पन्न होती है। इस परिच्छिन्नता को दूर करो तो देखोगे, जैसे तुम अभी वर्तमान में अस्तित्वमान हो, उसी प्रकार पहले भी——इस जीवन को प्राप्त करने से पूर्व भी अस्तित्व में थे और भविष्य में भी——इस देह के नष्ट हो जाने के उपरान्त भी अस्तित्व में रहोगे। मैं जैसे वर्तमान में दिखायी देता हूँ, वैसे ही अतीत में भी था और भविष्य में भी रहूँगा। ये राजागण जैसे अभी हैं, वैसे ही पहले भी थे और बाद में भी रहेंगे। नित्यता का लक्षण है जो तीनों कालों में रहे। अपना, अर्जुन का और राजाओं का अस्तित्व तीनों कालों में बताकर श्रीभगवान् जीव की नित्यता घोषित कर रहे हैं और इस प्रकार राजाओं के भी अशोच्य होने का कारण प्रस्तुत कर रहे हैं।

गीता के द्वारा यहाँ पर जीवन-क्रम की अनादिता और अनन्तता प्रदर्शित की गयी है। जीवन एक प्रवहमान

नदी के समान है। हम एक स्थान पर खड़े होकर किसी नदी को देखते हैं। कितना भाग देख पाते हैं? सम्भव है——सौ गज की लम्बाई मात्र को। उसके न पहले का भाग दिखायी देता है, न बाद का। पर इसका मतलब यह नहीं कि नदी मात्र सौ गज लम्बी है। जहाँ से नदी का दिखना शुरू होता है उसके पहले भी वही नदी है, पर आँखें उस भाग को देख नहीं पातीं। इसी प्रकार जहाँ तक नदी दिखायी दे रही है, उसके आगे भी वही नदी है, पर आँखें अपनी दृष्टिशक्ति की सीमा के कारण आगे के भाग को नहीं देख पातीं। यह जीवन भी इसी प्रकार सतत प्रवहमान एक सरिता है। जिस दिन हम पैदा हुए उसके पहले के भाग को और जिस दिन हम मृत्यु की गोद में अदृश्य हो जाते हैं उसके बाद के भाग को हम नहीं देख पाते। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्तमान जीवन के पहले यह जीवन नहीं था, या कि वर्तमान जीवन के बाद यह जीवन नहीं रहेगा। दृष्टिशक्ति की परिच्छिन्नता के कारण हम अतीत और आगामी जीवनों को नहीं देख पाते। दृष्टिशक्ति की यह परिच्छिन्नता देह और मन के परदे के कारण उपजती है। जो इस परदे को थोड़ा उठा लेने में समर्थ हैं, वे जीवन की नित्यता को देख पाते हैं। उनके लिए काल के तीनों भेद समाप्त हो जाते हैं। किसी किसी के जीवन में यह परदा अपने आप कुछ समय के लिए अचानक हट जाता है और वे अतीत के जीवन को देखने में समर्थ हो जाते हैं। हमने ऐसी कई घटनाएँ सुनी और पढ़ी होंगी, जहाँ एक

छोटासा बालक अपने पूर्वजन्म की बातों का स्मरण करने लगता है और जाँच-पड़ताल से उसकी बातें सत्य सिद्ध होती हैं। यदि जीवन में नित्यता न होती, तो उस बालक की बातें कैसे सत्य होतीं? आजकल जो लोग 'पैरासाइकालॉजी' के क्षेत्र में विशेष रुचि रखते हैं, वे ऐसी घटनाओं को extra-sensory perception (इन्द्रियातिरिक्त दर्शन) के नाम से पुकारते हैं। पर कोई नामकरण किसी बात का स्पष्टीकरण नहीं होता। यदि यही मान लें कि ऐसी घटना extra-sensory perception का परिणाम है, तो प्रश्न उठता है कि उसी बालकविशेष के साथ यह घटना क्यों घटी? फिर, यही घटना दुबारा किसी अन्य के साथ फिर से क्यों नहीं घटती? इन प्रश्नों के कोई समाधानकारक उत्तर नहीं हैं। अतः यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ता है कि जीवन नित्य है।

यहाँ पूछा जा सकता है कि जैसे पूर्वजन्म को जानने की घटनाएँ होती हैं, वैसे ही भविष्य के जन्म को जानने की घटनाएँ क्यों नहीं होतीं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि पूर्वजन्म की घटनाओं की स्मृति छोटे बच्चों से ही सम्बन्धित हुआ करती है। साधारणतया पूर्वजन्म की बात ६-७ वर्ष की उम्र तक ही स्मरण रहती है, उसके बाद नहीं। इसका कारण यह है कि इस उम्र के बाद वर्तमान जीवन के संस्कारों का परदा इतना मोटा हो जाता है कि उसमें से अतीत में झाँकना सम्भव नहीं हो पाता। इने-गिने बच्चों के लिए ही मानो २॥-३ वर्ष से ६-७

वर्ष के बीच इस परदे में कोई सूराख हो जाता है जिसमें से वे अतीत को देखने में समर्थ होते हैं और धीरे धीरे यह सूराख फिर से अपने आप बन्द हो जाता है। भविष्य में होनेवाले जीवन का पता इसलिए नहीं चलता कि वर्तमान जीवन में अर्जित संस्कारों के परदे में उपर्युक्त प्रकार से कोई सूराख नहीं बन पाता, अतः अनागत में झाँकने का कोई उपाय नहीं है।

इस सब विवेचन का निष्कर्ष यही है कि जीवन में एक सततता है। अतएव वर्तमान जीवन के नाश के विचार से शोक नहीं करना चाहिए। अर्जुन अपने सम्बन्धी राजाओं को शोच्य मान रहा था। भगवान् कहते हैं कि ये राजा मेरे और तेरे समान पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। शरीर की दृष्टि से वे नश्वर और काल में बँधे हुए हैं, पर आत्मा की दृष्टि से वे अविनाशी और शाश्वत हैं। अतएव अर्जुन ! तू उनके लिए शोक न कर।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ २/१३ ॥

(यथा) जैसे (देहिनः) देही की (अस्मिन् देहे) इस देह में (कौमारं) कौमार्य (यौवनं) यौवन (जरा) बुढ़ापा (तथा) वैसे ही (देहान्तरप्राप्तिः) अन्य देह की प्राप्ति (तत्र) वहाँ (धीरः) ज्ञानी पुरुष (न मुह्यति) नहीं मोहित होता।

"देहधारी (आत्मा) को इस देह में जिस प्रकार बालपन, तरुणाई और बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी प्रकार (आगे उसी आत्मा को) दूसरी देह की प्राप्ति होती है। अतः इस विषय में ज्ञानी पुरुष मोहित नहीं होता।"

पूर्व श्लोक में भगवान् ने जीवन की नित्यता बताकर अर्जुन को समझाया कि आत्मा की दृष्टि से किसी के लिए शोक करना उचित नहीं है। अर्जुन इस तर्क को स्वीकार करता है, पर कहता है कि ठीक है, आत्मीय-स्वजन आत्मा की दृष्टि से नित्य हैं, किन्तु उनके शरीर तो नष्ट होंगे ही। अतः शरीर का बिछोह होने के कारण दुःख होना स्वाभाविक है। मैं तो उनके शरीर के बिछोह की कल्पना से दुःखी हो रहा हूँ। इस पर श्रीभगवान् कहते हैं कि अर्जुन, व्यक्ति का शरीर तो हरदम बदलता रहता है। बचपन का शरीर युवावस्था में नहीं रहता, यौवन का शरीर बुढ़ापे में नहीं रहता। देख, शरीर तो बदल गया, पर इस परिवर्तन के कारण कोई तो रोता नहीं। ठीक इसी प्रकार एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर के ग्रहण को भी समझना चाहिए। यह देही आत्मा अपने इस शरीर में क्रम से जैसे बालपन, तारुण्य और बुढ़ापे का अनुभव करता है, अर्थात् जिस सहजता से बालपन को छोड़ तरुणाई में आता है और तरुणाई को छोड़ बुढ़ापे में, ठीक उसी सहजता से वह इस देह को छोड़ दूसरी देह का ग्रहण करता है। अतः ज्ञानी पुरुष को शरीर का मोह नहीं करना चाहिए।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र कहता है कि शरीर के सारे अवयव—रुधिर, अस्थि, मज्जा आदि सतत परिवर्तित हो रहे हैं और सात वर्ष में सारे कण नष्ट होकर नवीन हो जाते हैं। भारत की शास्त्रीय परम्परा भी इस

बात को स्वीकार करती है कि बारह वर्ष में मानव-देह के समस्त कण नष्ट होकर नूतन हो जाते हैं। इसीलिए सम्भवतः हमने बारह वर्ष की अवधि को 'युग' की संज्ञा दी है। एक युग में मनुष्य का सारा शरीर बदल जाता है। एक अवस्था के अवयव दूसरी अवस्था में नहीं पहचाने जाते। कहाँ जन्म के समय का एक बालिश्त का बच्चा और कहाँ युवावस्था का साढ़े तीन हाथ का मनुष्य ! क्या कोई समानता है दोनों में ? पर कोई इसलिए तो नहीं रोता कि बच्चा विकसित होकर युवक हो गया ! तब देही यदि इस देह को छोड़ दूसरी देह धारण करे, तो फिर रोना क्यों ?

इस पर कोई कह सकता है कि भले ही शरीर बदलता रहे, पर यह प्रतीति, यह प्रत्यभिज्ञा तो बनी रहती है कि वही शरीर विकसित या क्षीण हो रहा है; जबकि अन्य देह प्राप्त होने से यह प्रत्यभिज्ञा थोड़े ही बनी रहती है; वहाँ तो यही प्रतीत होता है कि शरीर का नाश हो गया। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इस सीमित दृष्टि का दोष हमारा अपना है। प्रत्यभिज्ञा एक प्रकार के ज्ञान को कहते हैं। बुद्धि जब निर्मल होती है, तो उसमें प्रत्यभिज्ञा होती है। जो योग और उपासना आदि के द्वारा अपनी बुद्धि को शुद्ध कर लेते हैं, उनमें शरीरान्तर-ग्रहण के अनन्तर भी प्रत्यभिज्ञा बनी रहती है। वे दूसरी देह धारण करने के बाद भी अपनी पूर्व देह का स्मरण रखते हैं। ऐसे लोग 'जातिस्मर' के नाम

से पुकारे जाते हैं। ऊपर हमने कहा है कि कोई कोई बच्चे अचानक अपने पूर्वजन्म की बातें स्मरण करने लगते हैं।

'देही' का अर्थ होता है देहधारी आत्मा। यह आत्मा जैसे इस देह में विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव करता है, वैसे ही विभिन्न देहों का भी। इस अपरिवर्तनशील आत्मा के ही कारण स्मरण की क्रिया सम्भव हो पाती है। सतत परिवर्तनशील अवस्थाओं की बातें स्मरण रखना तथा सबको एक शृंखला में गूँथकर देखना इस कूटस्थ आत्मतत्त्व के ही कारण सम्भव होता है। वही निरन्तर भागते हुए घटनाप्रवाहों को अर्थ प्रदान करता है। जैसे, हम सिनेमा देखते हैं। परदे पर, स्क्रीन पर भागती हुई फिल्मों को प्रतिबिम्बित किया जाता है। अलग अलग टुकड़ों में यदि फिल्म को देखें, तो वे सारी की सारी फिल्में अर्थहीन मालूम पड़ती हैं। पर जब इन फिल्मों को हम एक स्थिर परदे पर प्रोजेक्ट करते हैं—प्रतिबिम्बित करते हैं, तो उन्हीं फिल्मों में एक अर्थ की कड़ी पिरोयी मालूम पड़ती है। यदि परदा हिलता रहे तो यह अर्थ प्रकट नहीं हो पाता। सतत भागती हुई फिल्मों में निहित अर्थ को पकड़ने के लिए परदे का स्थिर होना अनिवार्य है। इसी प्रकार, देह और मन सतत भाग रहे हैं। इन भागते हुए घटनाचक्रों को अर्थ प्रदान करनेवाला वह स्थिर आत्मतत्त्व है, जो देह और मन के आधार के रूप में अवस्थित है और जिसे 'देही'

कहकर पुकारा गया। यह देही ही अनेकता में एकता की प्रतीति उत्पन्न करता है।

जैसे, हम किसी धनिक व्यक्ति के बैठकखाने में गये। वहाँ उसके जन्म से लेकर मृत्यु तक के सैकड़ों चित्र क्रम से टँगे हुए हैं। पहला चित्र तब का है जब वह कुछ क्षण पहले माता के गर्भ से बाहर निकला था और अन्तिम चित्र तब का है जब उसे चिता पर लिटाया जा रहा है। कितनी विभिन्नता है चित्रों में! पर सभी चित्रों में एकता का आभास देनेवाला वही देही है जो शरीर की अवस्थाओं के परिवर्तन का साक्षी है तथा शरीर के परिवर्तनों का भी। नोबल लारेट एलेक्सिस कैरल की भाषा में यह देही ही Man the Unknown (मानव का अज्ञात रूप) है। Man the Known (मनुष्य का ज्ञात रूप) सभी का जाना-पहचाना है। मनुष्य का वजन कितना है, उसकी ऊँचाई कितनी है, उसके शरीर का रंग कैसा है, उसके चलने का ढंग कैसा है, उसकी वेश-भूषा कैसी है—यह सब मनुष्य का ज्ञात रूप है, जो सतत बदलता रहता है। इन बदलते रूपों के पीछे यदि उसका अपरिवर्तनशील अज्ञात रूप न होता, तो इन रूपों का कोई अर्थ ही नहीं हो पाता। यह अज्ञात रूप ही स्मृतिशक्ति और विचारों की सुसम्बद्धता का आधार है। जो व्यक्ति इस देही की धारणा करने में समर्थ है, वही श्रीभगवान् की भाषा में 'धीर' है, बुद्धिमान और विवेकी है। अर्जुन से वे धीर बनने को कहते हैं। जो धीर बनता है, वही

मोह से ऊपर उठने में समर्थ होता है।

अर्जुन इसे भी समझ लेता है। पर कहता है कि इच्छा करने मात्र से तो धीर नहीं बना जा सकता। धीर बनना साधनासापेक्ष है और साधना समयसापेक्ष है। अतः जब तक धीर नहीं बना जाता, तब तक तो स्वजनों के शरीर के वियोग से दुःख होगा ही। ऐसी दशा में क्या किया जाय ? श्रीभगवान् इसका भी उपाय बताते हैं। कहते हैं--

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ २/१४ ॥

(कौन्तेय) हे कुन्तीपुत्र (मात्रास्पर्शाः) इन्द्रिय और विषयों के संयोग (शीतोष्णसुखदुःखदाः) शीत-उष्ण, सुख-दुःख को देने-वाले हैं (आगमापायिनः आने और जानेवाले हैं (अनित्याः) अनित्य हैं (भारत) हे भरतवंशी (तान्) उनको (तितिक्षस्व) सहन कर।

"हे कुन्तीपुत्र ! इन्द्रियों और उनके साथ विषयों के संयोग शीत-उष्ण सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को उपजाते हैं; वे आते हैं और चले भी जाते हैं, अतः अनित्य हैं। इस कारण हे भरतवंशी अर्जुन ! उनको तू सहन कर।"

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २/१५ ॥

(पुरुषर्षभ) हे पुरुषश्रेष्ठ (एते) ये (समदुःखसुखं) सुख-दुःख में समान रहनेवाले (धीरं यं पुरुषं) जिस धीर पुरुष को (न व्यथयन्ति) व्यथित नहीं करते (सः) वह (हि) ही (अमृतत्वाय) अमरता पाने के (कल्पते) योग्य होता है।

"हे पुरुषश्रेष्ठ ! सुख-दुःख में समान रहनेवाले जिस धीर

पुरुष को ये इन्द्रियाँ और विषयों के संयोग व्यथित नहीं करते, वही अमरता का अधिकारी होता है।"

इन दो श्लोकों में भगवान् अपरिहार्य को सहने का उपदेश देते हैं। जब तक देह बनी हुई है, तब तक इन्द्रियों का अपने विषयों से संयोग होता ही रहेगा। इसे कोई रोक नहीं सकता। आँखें हैं, तो देखेंगी ही। कान हैं, तो सुनेंगे ही। नाक है, तो गन्ध लेगी ही। रसना है, तो स्वाद ग्रहण करेगी ही। त्वगिन्द्रिय है, तो स्पर्श करेगी ही। 'मात्रा' का एक अर्थ 'इन्द्रियाँ' लिया जाता है और दूसरा अर्थ 'प्रकृति', 'मैटर' (Matter)। मात्रा और मैटर शब्दों का ध्वनिसाम्य दर्शनीय है। श्री शंकराचार्य के अनुसार, 'आभिः मीयन्ते शब्दादय इति श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि'--जिनसे शब्दादि विषयों को जाना जाय वे श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ 'मात्रा' कहलाती हैं। 'स्पर्श' से तात्पर्य है इन इन्द्रियों का अपने विषयों से संयोग। तो, ये इन्द्रियाँ और विषयों से उनके संयोग शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को उपजाते हैं। ये द्वन्द्व संयोगज हैं। इन्द्रियों और विषयों के संयोग से ये अस्तित्व में आते हैं तथा इन्द्रियों का विषयों से वियोग होने पर इनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अतः ये द्वन्द्व आगमापायी हैं -- आते हैं और जाते हैं। और चूँकि ये द्वन्द्व उपजते हैं और नष्ट होते हैं, इसलिए अनित्य हैं। कोई सुख नित्य नहीं, कोई दुःख नित्य नहीं। इन्द्रिय और उनके विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाली सारी

संवेदनाएँ इसी प्रकार क्षणिक होती हैं। अतएव मनुष्य को ऐसा विचारकर इन द्वन्द्वों को सहने का अभ्यास करना चाहिए।

यहाँ पर शीत-उष्ण और सुख-दुःख ये दो द्वन्द्व लिये गये हैं। सुख-दुःख ऐसे द्वन्द्व हैं, जिनमें कभी परिवर्तन या व्यभिचार नहीं होता। ये निश्चितरूप हैं, अर्थात् सुख की अनुभूति में या दुःख की अनुभूति में कभी फेर-फार या रद्दोबदल नहीं होता; जबकि शीत-उष्ण की संवेदना में व्यभिचार होता है। क्या मतलब ? यही कि शीत गर्मी के दिनों में तो सुखरूप होता है, पर ठंड के दिनों में दुःखरूप। उसी प्रकार उष्ण ठंड के दिनों में सुखरूप होता है, पर गर्मियों में दुःखरूप। एक वस्तु कभी दुःखरूप होती है, तो कभी सुखरूप। इसको उसके धर्म का व्यभिचार या परिवर्तन कहते हैं। फिर, वही एक वस्तु एक ही समय एक के लिए सुखरूप होती है, तो दूसरे के लिए दुःखरूप। शीत-उष्ण त्वगिन्द्रिय के द्वन्द्व हैं। ये उपलक्षण हैं, यानी ऐसा ही हमें अन्य इन्द्रियों से उपजनेवाले द्वन्द्वों के बारे में समझना चाहिए। इस क्षण जलेबी मुझे प्रिय है और मैं चाव से उसे खाता हूँ। रसना का यह स्वाद सुखरूप है। पर जब खाते खाते पेट भर गया, तो अब मैं जलेबी की ओर ताक भी नहीं सकता। एक छोटासा टुकड़ा मुँह में डालने पर उबकाई आती है। रसना का यह स्वाद दुःखरूप है। फिर, वही जलेबी एक व्यक्ति के खाली पेट के लिए अमृतरूप है,

तो दूसरे व्यक्ति के भरे पेट के लिए विषरूप। इस प्रकार इन सभी द्वन्द्वों का पर्यवसान सुख या दुःख में होता है। इसके प्रतिकार का एकमात्र उपाय है सहनशीलता। हम बाहर की परिस्थितियों को अपने अनुकूल नहीं बना सकते, इसलिए उचित यह है कि हम अपने ही भीतर परिवर्तन लायें। जो बाहर प्रतिकूलताएँ देखकर उन्हें सुधारने के लिए जाता है, वह असफल होता है और इसलिए दुःख का भागी होता है। हमें इन प्रतिकूलताओं को सहने का अभ्यास करना चाहिए। इसी को भगवान् 'तितिक्षा' की संज्ञा देते हैं। श्रीरामकृष्ण देव अपनी सहज-सरल भाषा में कहते हैं--"देखो, 'स' के तीन भेद हैं -- श, ष और स। जानते हो, इसका क्या तात्पर्य है ? तात्पर्य है-- स, स, स, यानी सहो, सहो, सहो।" श्रीमाँ सारदा देवी भी यही कहती हैं--"जे सॅय से रॅय (जो सहता है वह रहता है)।" अतएव, द्वन्द्वों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है उनको सह लेना।

भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे नरश्रेष्ठ ! तुम स्वजनों के वियोग की कल्पना से जो दुखित हो रहे हो, वह उचित नहीं। जब वियोग का समय आयेगा, तो उसे अनिवार्य मानकर सह लेना। जो इस प्रकार सुख-दुःख द्वन्द्वों का विचार करता हुआ उनमें समान रहता है और उनसे पीड़ित नहीं होता, वह 'धीर' बन जाता है और फलस्वरूप अमरता का अधिकारी होता है। अमरता से तात्पर्य है भय से मुक्ति। भय ही मृत्यु है। हम जीवन

में सतत डरते हैं। परिस्थितियाँ हमें डराती रहती हैं। जो परिस्थितियों से डरता है और उनके दबाव में आ जाता है, वह जीवन में सदैव मृत्यु को ही देखता है। लड़के को रोग हो गया, मानो हमीं मर गये! व्यापार में पैसा डूब गया, मानो हमीं मर गये! परन्तु जो परिस्थितियों के दबाव को हटा देता है वह अभय का, अमरता का अधिकारी हो जाता है। परिस्थितियों का आत्मविश्वास पर हावी होना मृत्यु है और आत्मविश्वास का परिस्थितियों पर हावी होना अमरता है।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम० ए०

(१) कर्मण्येवाधिकारस्ते...

कलकत्ते में सन् १८९९ में भयंकर रूप से प्लेग फैला था। उसकी चपेट में सभी लोग आने लगे। रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करनेवाले भी भयभीत हो गये, क्योंकि वे भी बीमार पड़ने लगे, किन्तु स्वामी विवेकानन्द तनिक भी विचलित न हुए। मानव-सेवा का व्रत जो उन्होंने लिया था! अपने शिष्यों के साथ वे न केवल रोगियों की सेवा करते, बल्कि सड़कों और नालियों को भी साफ करते। पर उनका यह कार्य कुछ धर्मभीरु पण्डितों से न देखा गया। वे स्वामीजी से बोले, "आप यह ठीक नहीं

कर रहे हैं। आप तो यह भलीभाँति जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपने पापों का फल भोगना पड़ता है। जिन्होंने पाप किया है, वे प्लेग से पीड़ित हो रहे हैं। भगवान् उन्हें उनके पापों का दण्ड दे रहे हैं। तब आप उनकी शुश्रूषा कर भगवान् के कार्य में व्यर्थ ही क्यों बाधक बन रहे हैं?"

यह सुन स्वामीजी ने उत्तर दिया, "इसमें कोई शंका नहीं कि बुरे कर्म करनेवाले को ही कष्ट सहना पड़ता है, किन्तु कष्ट पानेवालों को जो कष्ट से मुक्त कराते हैं उन्हें क्या पुण्य प्राप्त न होगा? जिस प्रकार इन रोगियों के भाग्य में कष्ट पाना लिखा हुआ है, उसी प्रकार हमारे भाग्य में उन्हें कष्टों से मुक्ति दिलाकर पुण्य प्राप्त करना लिखा हुआ है। इस कारण हम पुण्य-प्राप्ति का कार्य ही कर रहे हैं, न कि ईश्वर के कार्य में बाधा डाल रहे हैं।" और यह तार्किक उत्तर सुन उन पण्डितों से आगे कुछ बोलते न बना तथा वे चुपचाप वहाँ से खिसक गये।

(२) जड़ों का महत्त्व

स्वामी रामतीर्थ एक बार जापान गये। वहाँ जब वे सम्राट् का बाग देखने गये तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि डेढ़-दो सौ वर्ष पुराने चिनार के वृक्षों की ऊँचाई एक-दो बालिश्त के बराबर ही थी। रामतीर्थ सोचने लगे—क्या कारण है कि ये वृक्ष अत्यधिक पुराने होने के बावजूद सौ-दो सौ फुट ऊँचे न होकर एक-दो बालिश्त

के हैं ? जब वहाँ के माली को उनकी समस्या मालूम पड़ी तो वह हँस पड़ा। बोला, "मालूम होता है, आपको वृक्षों के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है।" फिर आगे बोला, "आप लोग केवल वृक्ष को देखते हैं, जबकि माली उसकी जड़ों को देखता है। हम इन वृक्षों की जड़ों को नीचे बढ़ने ही नहीं देते, उन्हें काटते रहते हैं। जड़ें कटने से वृक्ष ऊपर बढ़ नहीं सकता, क्योंकि जड़ें जितनी गहरी जायेंगी, वृक्ष उतना ही ऊपर बढ़ेगा। वास्तव में वृक्ष के प्राण ऊपर नहीं, जमीन में समायी जड़ों में होते हैं। यही कारण है कि यदि पूरा वृक्ष काट डाला जाय, किन्तु जड़ों को वैसा ही रखा जाय, तो जड़ों से फिर नया वृक्ष फूट निकलेगा। इसके विपरीत जड़ों को काट डालने से वृक्ष के पनपने की सम्भावना नहीं रह जाती।"

यह सुन रामतीर्थ सोचने लगे--"हम मनुष्यों का भी यही हाल है। हमें किसी व्यक्ति का बाहरी व्यक्तित्व और आचरण तो दिखायी देता है, किन्तु उसके विचार नहीं दिखायी देते। वास्तव में उसके आचरण की जड़ें उसके विचारों में ही होती हैं। यदि सुविचारों की जड़ें काट डाली जायँ, तो वह व्यक्ति विचारहीन हो जायगा और ऐसा विचारहीन मनुष्य आचरण से भी पंगु बन जायगा। हमने अपने विचारों के तल पर मानो आत्म-घात कर लिया है; यही कारण है कि हमारे व्यक्तित्व का कल्पवृक्ष सूखकर ठूँठ हो गया है, और लोग यह दुराशा लगाये रहते हैं कि यह ठूँठ फिर से हरा-भरा

होकर फूल-फल और छाया देगा। किन्तु यह उनका भ्रम है। उन्हें अपने विचारों को ही बदलना चाहिए।"

(३) धीरज का फल मीठा

भगवान् बुद्ध भ्रमण कर रहे थे। मार्ग में उन्हें प्यास लगी। आनन्द समीपस्थ झरने से पानी लाने गये। उन्होंने देखा कि कुछ ही समय पूर्व वहाँ से बैलगाड़ियाँ गुजरी हैं तथा बैलों ने सारा जल गन्दा कर दिया है। वे वापस लौट आये और बुद्धदेव से बोले, "यहाँ का जल गन्दा है। मार्ग में हमें जो नदी लगी थी, मैं वहाँ का जल लाता हूँ।" किन्तु बुद्धदेव बोले, "झरने से ही जल ले आओ।" आनन्द जब झरने के पास गये, तो उन्होंने देखा कि जल अभी भी साफ नहीं हुआ है। वे वापस आ गये और बुद्धदेव से उन्होंने फिर से जल के गन्दे होने की बात बतायी। बुद्धदेव ने उन्हें पुनः झरने का ही जल लाने भेजा, किन्तु गन्दा जल देख आनन्द की इच्छा न हुई कि उसे अपने स्वामी को पिलाया जाय। वे लौट आये और बुद्धदेव ने पुनः उन्हें वापस भेजा। ऐसा तीन बार हुआ। चौथी बार जब आनन्द वहाँ गये, तो देखा कि मिट्टी और सड़े-गले पत्ते नीचे बैठ चुके हैं तथा पानी आईने की भाँति चमक रहा है। इस बार वे जल लेकर लौटे। तब बुद्धदेव बोले, "आनन्द! हमारे जीवनरूपी जल को भी कुविचाररूपी बैल प्रतिदिन गन्दा करते रहते हैं और तब हम जीवन से पलायन करते हैं। किन्तु हमें भागना नहीं चाहिए, बल्कि मनरूपी

झरने के शान्त होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसके लिए धीरज की आवश्यकता है। तभी सब कुछ स्वच्छ दिखायी देगा, ठीक इस झरने की तरह !"

(४) प्रभु-प्राप्ति का मार्ग

द्वितीय सिक्ख गुरु अंगदेवजी का पूर्व नाम लहिणा था। तीर्थयात्रा करते समय एक बार उनकी मुलाकात आदिगुरु नानकदेव से हुई और उनके ज्ञान से प्रभावित हो वे उनके होकर रह गये। एक बार नानकदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीचन्द से पूछा, "तुझे किस वस्तु की इच्छा है ?" श्रीचन्द ने उत्तर दिया, "मुझे ईश्वर-भक्ति के अलावा और कुछ नहीं चाहिए।" तब उन्होंने अपने कनिष्ठ पुत्र लक्ष्मीचन्द से भी यही प्रश्न किया। वह बोला, "मेरी अभिलाषा धन-सम्पत्ति प्राप्त करने की है।" इस पर नानकदेव ने लक्ष्मीचन्द को काफी धन दिया तथा श्रीचन्द को आशीर्वाद दिया, "जा, तुझे वैराग्य प्राप्त हो।" समीप ही लहिणा भी खड़े थे। नानकदेव ने उनसे भी अपनी अभिलाषा व्यक्त करने को कहा। इस पर लहिणा गद्‌गद् कण्ठ से बोले, "दीनबन्धो ! मुझे न तो प्रभु के दर्शन की इच्छा है, न ही धन-वैभव की, बल्कि मुझे गुरु और गुरु-सेवकों की सेवा करने का अवसर मिले, तो मैं अपने आप को धन्य समझूँगा !"

गुरु नानक भाव-विभोर हो लहिणा से बोले, "पुत्र ! जो ईश्वर के बन्दों की सेवा करना चाहता है, प्रभु उसी को प्राप्त होते हैं। सेवा-धर्म को समझने के कारण गुरु-

गद्दी का अधिकारी तू ही है ।"

(५) काव्य-महिमा

शेख सादी जब नब्बे बरस के हुए, तो अरब के एक सुल्तान ने उनके पास एक बेशकीमती हीरा भेजा और लिखा —"सारी जिन्दगी आपने कविताएँ लिखने में ही गँवायी है । यदि इस हीरे की जोड़ की कोई कविता आपके पास हो, तो भेज दें ।" सादी ने पत्र पढ़ा और हीरे को देखा । फिर जवाब लिखा—"आप कविता की बातें करते हैं, किन्तु शायद आपको मालूम नहीं कि मेरी शायरी का एक एक शब्द आपके इस हीरे से कहीं अधिक कीमती है । मेरे शब्द दो बिछुड़े दिलों का स्नेह-सेतु बनने की क्षमता रखते हैं, जबकि आपका हीरा दो इन्सानों के बीच खूनखराबी का जरिया ही बनता है । मेरे शब्द ईश्वर के सिंहासन को हिलाने की क्षमता रखते हैं, जबकि आपका हीरा किसी भूखे इन्सान की भूख मिटाने में एक चने की भी बराबरी नहीं करता; उल्टे उसका काल बन सकता है । आपका हीरा आपको मुबारक, मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं !"

(६) स्पर्श का परिणाम

हकीम लुकमान तब किसी सौदागर के यहाँ नौकरी करते थे । अपने रहमदिल मालिक के प्रति उनके दिल में बड़ा सम्मान था । एक बार वह सौदागर बाजार से एक तरबूज लाया और उसे काटकर उसकी एक फाँक लुकमान को देकर पूछा, "चखकर बताओ भला, इसका

जायका कैसा है ?"

लुकमान उसे खाते हुए बोले, "वाह वाह, बहुत स्वादिष्ट ! बहुत मीठा !" सौदागर ने दूसरी फाँक देते हुए पूछा, "इसे चखकर बताओ तो, कैसा स्वाद है ? शायद इसमें भी मजा आये।"

दूसरी फाँक खाते हुए लुकमान बोले, "इसका स्वाद भी बढ़िया है। इसके सामने तो खजूर कुछ भी नहीं। बस जीभ लपलपाती रह जाती है।" सौदागर फाँक पर फाँक काटकर उन्हें देता रहा और वे उसकी तारीफों के पुल बाँधते रहे। अन्तिम फाँक जब स्वयं सौदागर ने चखी तो उसे वह कड़ुवी लगी और उसने उसे थूक दिया। फिर वह लुकमान से बोला, "छिः ! यह भी कोई तरबूज है ! चिरायते-सा कड़ुवा ! तुम तो व्यर्थ ही इसकी तारीफ के पुल बाँधते रहे। मैं सच जान तुम्हें देता रहा और तुम्हारे मुँह का जायका खराब करता रहा।"

यह सुन लुकमान बोले, "मेरे आका ! जिन हाथों से मैं आज तक सैकड़ों मीठी चीजें खा चुका हूँ, उन हाथों से मिला यह कड़ुवा तरबूज भी आज मेरे लिए मीठा हो गया ! फिर भला मैं उसकी तारीफ क्यों न करता ?"

•

कर्मयोग और वेदान्त का व्यवहार

बालयोगी विष्णु अरोड़ा

(इस स्मृतिधर बालक का जन्म १ दिसम्बर, १९६३ को हुआ है। कहते हैं कि पाँच बर्ष की उम्र से ही इन्होंने प्रवचन देना आरम्भ कर दिया। प्रस्तुत प्रवचन इन्होंने आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर १४-२-७३ को दिया था। ——सं०)

एक बार स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि We all are doing karma all the time——हम सभी सारे समय ही कर्म कर रहे हैं। इसलिए कर्म नहीं करने की असम्भव बात को आप अपने दिल और दिमाग से निकाल दीजिए। कर्म आपके लिए, हमारे लिए, सभी के लिए अनिवार्य है। इसलिए भगवान् ने कर्म करने का अधिकार भी हमको दे दिया है। हम अधिकारपूर्वक कर्म कर सकते हैं। हमको कोई नहीं रोक सकता। किन्तु हाँ, हम अधिकारपूर्वक फल प्राप्त नहीं कर सकते। इस सिद्धान्त को आप सभी अच्छी तरह से जानते हैं। किन्तु आपने कभी सोचा कि भगवान् ने ऐसा क्यों किया? जिस प्रकार कर्म करने का अधिकार हमको दिया गया, इसी प्रकार यदि फल प्राप्त करने का अधिकार भी दे दिया जाता, तो हम भी सुखी होते और भगवान् को भी परेशानी नहीं होती! कर्म हम करें और फल भगवान् दें यह कैसी विचित्र बात है! किन्तु इसके पीछे एक बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। देखिए, कर्म और क्रिया यद्यपि एक समान दिखायी देते हैं, किन्तु दोनों में बड़ा बुनियादी अन्तर है। कर्म बाह्य

होता है, क्रिया आन्तरिक होती है; कर्म दिखायी देता है, क्रिया दिखायी नहीं देती। कर्म मनुष्य के अधिकार में है, क्रिया भगवान् के अधिकार में है। हम चाहे तो भोजन करें, चाहे तो न करें। लेकिन उस भोजन से रक्त-मांस-वीर्य आदि बनाने की क्रिया भगवान् के हाथ में है। इस भोजन से कितना रक्त बनेगा, कितना मांस बनेगा, आदि सारा हिसाब-किताब भगवान् के हाथ में है। जमीन में बीज बोने का कर्म हमारे अधिकार में है, लेकिन उस बीज से वृक्ष बनाना, फल लगाना, फूल लगाना आदि सारी क्रिया भगवान् के हाथ में है। और जब क्रिया भगवान् के हाथ में है, तो फल देना भी भगवान् के हाथ में है।

लेकिन कुछ लोग यह तर्क दे सकते हैं कि जिस प्रकार कर्म करने का अधिकार हमको दिया गया, इसी प्रकार क्रिया का अधिकार भी दे दिया जाता तो भगवान् को क्या कुछ घाटा पड़ जाता ? अरे, उससे तो भगवान् की सारी समस्या समाप्त हो जाती ! किन्तु ऐसा सोचना हमारी भयंकर भूल होगी। यदि कर्म के साथ ही क्रिया का अधिकार भी मनुष्य के हाथ में होता, तो सृष्टि कुछ ही क्षणों में समाप्त हो जाती; क्योंकि प्रकृति जितनी अधिक नियमित है, मनुष्य उतना ही अधिक अनियमित है। भगवान् मनुष्य की हठधर्मी, लापरवाही एवं आलस्य को अच्छी तरह से जानते थे। इसीलिए क्रिया तो क्या, मनुष्य का जो अनिवार्य कर्म

है, उस पर भी भगवान् को नियन्त्रण रखना पड़ा। बिना भोजन और पानी के तो हम कई दिनों तक रह सकते हैं, किन्तु बिना हवा और बिना श्वास के कुछ क्षण भी जीवित रहना जनसाधारण के लिए असम्भव है। यदि श्वास पर भगवान् का नियन्त्रण नहीं होता, तो आप जानते हैं उसका क्या परिणाम होता ? जरासा पत्नी से झगड़ा हुआ, क्रोध के कारण श्वास लेना भूल गये, बस गये काम से। जेब कट गयी, पाँच-दस हजार रुपये का नुकसान हो गया, घबराहट के कारण श्वास लेना भूल गये, बस हो गयी छुट्टी। जरा अधिक परिश्रम किया, नींद गहरी लग गयी, श्वास लेने का ध्यान न रहा, सोते के सोते रह गये। यदि श्वास पर भगवान् का नियन्त्रण नहीं होता, तो हमारा जिन्दा रहना मुश्किल हो जाता। आपको ध्यान रहे चाहे न रहे, आप चाहे क्रोध में हों चाहे घबराहट में, चाहे प्रेम की मस्ती में हों, चाहे गहरी नींद में, श्वास बराबर चलती रहेगी, आपको चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। और इससे केवल आपकी ही परेशानी समाप्त हो गयी ऐसी बात नहीं, भगवान् की भी बहुत बड़ी समस्या समाप्त हो गयी। यदि श्वास लेने का कर्म मनुष्य के अधिकार में होता, तो मनुष्य अपनी हठधर्मी के कारण मौत पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करता। मौत सामने खड़ी होती तो वह ललकारकर कहता--'खबरदार ! मैं श्वास ले रहा हूँ, तू मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती !' और इस

प्रकार मौत पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करता हुआ भगवान् की मुश्किल करता। यदि क्रिया मनुष्य के अधिकार में होती, तो मनुष्य क्या करता आप जानते हैं ? मनुष्य जमीन में बीज बोने के कुछ ही मिनटों में जमीन में से पौधा निकालने की कोशिश करता। कुछ घण्टों में ही उसे एक विशाल वृक्ष बनाने की कोशिश करता और कुछ दिनों में ही उसमें फूल और फल लगाने की कोशिश करता। प्रकृति के सारे नियम नष्ट-भ्रष्ट हो जाते। इसलिए भगवान् ने क्रिया को अपने अधिकार में रखा। और जब क्रिया भगवान् के हाथ में है, तो फल देना भी भगवान् के हाथ में है। इसीलिए भगवान् गीता के दूसरे अध्याय में कहते हैं--

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

--केवल कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। कर्मफल का हेतु तू कभी मत बन और कर्म न करने के प्रति भी तेरी आसक्ति न हो।

हमारे कर्म करने के अधिकार को कोई छीन नहीं सकता। भगवन्नाम लेने के अधिकार से हमें कोई वंचित नहीं कर सकता, और जब हम कर्म करते हैं तो ऐसा नहीं हो सकता कि फल प्राप्त न हो। कारण यह है कि "कर्मप्रधान बिस्व करि राखा, जो जस करइ सो तस फल चाखा।" जो जैसा कर्म करेगा, उसे वैसा ही फल प्राप्त होगा। मैट्रिक की परीक्षा देकर कोई भी

व्यक्ति एम० ए० की डिग्री प्राप्त नहीं कर सकता। खेत में ज्वार बोकर गेहूँ उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इमली के पेड़ में चाहे जितना भी पानी डालो, उसमें आम नहीं लग सकते। इस नियम के अनुसार सांसारिक कर्मों से आप प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकते। और यदि आप नटवर नन्दकिशोर की झाँकी के दर्शन करना चाहते हैं, तो मुरलीमनोहर की मनोरम मूर्ति को अपने मनमन्दिर में बसाना होगा। यदि आप आत्मसाक्षात्कार करना चाहते हैं, तो भक्ति, जप, धारणा, ध्यान एवं समाधि के पंचसोपानों को पार करना होगा।

लेकिन इतना समय आपके पास कहाँ है? आप तो चाहते हैं कि दिन-रात सांसारिक कर्मों में लगे रहें, पल भर के लिए भी परमपिता परमेश्वर को याद न करें और भगवान् के दर्शन हो जायँ! ऐसा हो नहीं सकता; क्योंकि 'जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम, दोनों कबहूँ न मिलै रवि रजनी इक ठाम।' मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि सारा काम-काज बन्द कर दें और संसार का परित्याग करके संन्यास ले लें। यद्यपि निवृत्तिमार्ग के अनुकरण से, संन्यासमार्ग के माध्यम से भी ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु परमात्मा की प्राप्ति के लिए संन्यासमार्ग का अवलम्बन करना अनिवार्य नहीं है। संसार में रहकर, सांसारिक कर्मों को करते हुए भी भगवान् को आप प्राप्त कर सकते हैं। और जिस क्रिया के द्वारा, जिस साधन के द्वारा यह सम्भव है,

उसका नाम है कर्मयोग।

कर्मयोग दो शब्दों के संयोग से बना है, कर्म + योग। कर्म शब्द की उत्पत्ति 'कृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है करना। अर्थात्, हम जो कुछ भी करते हैं वह कर्म कहलाता है। खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना आदि सभी कर्म है। यज्ञ करना भी कर्म है, चोरी करना भी कम है। इन समस्त कर्मों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है। पहला नित्य कर्म, दूसरा नैमित्तिक कर्म, तीसरा काम्य कर्म और चौथा निषिद्ध कर्म। नित्य कर्म कौन से हैं? खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना आदि सभी नित्य कर्म हैं, जिनके करने से कोई विशेष लाभ तो नहीं होता, किन्तु नहीं करने से हानि अवश्य होती है। अतः प्राणीमात्र को नित्यकर्म करना अनिवार्य है। दूसरा है नैमित्तिक कर्म, जो किसी निमित्त से किया जाय। जैसे बीमार हो जाने पर औषधि लेने का कर्म। बीमार हुए, इसलिए औषधि लेने का कर्म करना पड़ा। यदि बीमार नहीं होते, तो औषधि लेने का कर्म नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार आग लगने पर बुझाने का कर्म। आग लगी है, इसलिए बुझाने का कर्म करना पड़ा। यदि आग न लगती, तो बुझाने का कर्म नहीं करना पड़ता। अर्थात् किसी घटना के घटने पर उसके निमित्त जो कर्म किया जाय, उसे नैमित्तिक कहते हैं। तीसरा है काम्य कर्म। जो किसी विशेष कामना की पूर्ति के लिए किया जाय, उसे काम्य कर्म कहते हैं। पुत्र की प्राप्ति के

लिए यज्ञ करना, स्त्री-धन-सम्पदा आदि के लिए व्रत अथवा उपवास करना काम्य कर्म कहलाता है। चौथा है निषिद्ध कर्म। जैसे चोरी करना, शराब पीना, किसी की हत्या करना ये सब निषिद्ध कर्म कहलाते हैं।

आइए, अब 'योग' शब्द पर भी थोड़ासा विचार कर लें। 'योग' शब्द की उत्पत्ति युज् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है जोड़ना, मिलाना, एकत्र करना। लेकिन बोलचाल में साधारणतः 'योग' शब्द का अर्थ पातंजल-योग अर्थात् प्राणायाम, धारणा, ध्यान एवं समाधि से लिया जाता है। संन्यासी एवं समाधिवान् पुरुषों को योगी समझा जाता है। लेकिन गीता में इसका इतना संकुचित अर्थ नहीं है। सम्पूर्ण गीता में 'योग' शब्द अस्सी बार आया है, जिनमें मात्र पाँच स्थानों पर इसका अर्थ पातंजल-योग से सम्बन्धित है। शेष पचहत्तर स्थानों पर इसका अर्थ युक्ति, साधन, उपाय, कुशलता आदि से है। 'योग' शब्द का अर्थ वैदिक काल से ही विवाद का विषय रहा है। अनेक विद्वानों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं। इसी कारण योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता का गूढ़तम रहस्य समझाने के पूर्व ही 'योग' शब्द का अर्थ भी स्पष्ट कर दिया। कहा--'योगः कर्मसु कौशलम्'--कर्म करने की चतुराई या कुशलता को योग कहते हैं। लेकिन यहाँ 'कुशलता' शब्द को भी समझ लेना बहुत जरूरी है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है। कर्म करने की कुशलता यदि योग है, तब तो जो चोर बड़ी कुशलता के साथ चोरी करता है,

उसे भी योगी कहना चाहिए। लेकिन चोर को कोई भी योगी नहीं कहता। व्यापारी लोग धन कमाने के लिए दिन-रात बड़ी कुशलता के साथ काम करते हैं। लेकिन उन्हें भी कोई योगी नहीं कहता। जेब काटनेवाला कितनी कुशलता के साथ जेब काटता है, लेकिन उसे भी कोई योगी नहीं कहता। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ कुशलता का एक विशेष अर्थ है, और वह यह कि संसार में रहकर समस्त सांसारिक कर्मों को इस कुशलता के साथ किया जाय कि आत्मसाक्षात्कार हो जाय, भगवान् के दर्शन हो जायँ। जो इस युक्ति के साथ कार्य करता है, उसे योगी कहते हैं। युद्धक्षेत्र में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को आदेश देते हैं—'योगस्थः कुरु कर्माणि'—हे अर्जुन! तू योग में स्थित होकर युद्ध कर। क्योंकि,

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्यो मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

—तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी से भी योगी अधिक है। इसलिए अर्जुन ! तू योगी बन। पर इसका अर्थ कदापि यह नहीं होता कि अर्जुन, तू समाधि लगाकर युद्ध कर। अपितु 'समत्वं योग उच्यते'—समत्वभाव को योग कहते हैं, इसलिए तू पाप-पुण्य, सिद्धि-असिद्धि में सम बुद्धि रखते हुए, अलिप्त रहकर युद्ध कर।

किन्तु अधिकांश लोग हमारे सन्त-महात्माओं के पास जाकर अपने आपको धिक्कारते हुए कहते रहते हैं कि क्या करें, हम तो घर-गृहस्थी के कीचड़ में ऐसे फँसे हैं कि

हमारा तो उद्धार हो ही नहीं सकता। संसार में रहकर भगवान् के दर्शन भला कैसे हो सकते हैं? हम तो पापी हैं, नीच हैं, हमारी मुक्ति कैसे हो सकती है? लेकिन हम लोग यह भूल जाते हैं कि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण भी तो गृहस्थी थे। योगियों के परम इष्टदेव कैलासपति शंकर भी तो गृहस्थी थे। हमारे ऋषि-मुनियों के भी तो पत्नियाँ थीं। महर्षि याज्ञवल्क्य के एक नहीं, दो पत्नियाँ थीं--मैत्रेयी और कात्यायनी। तो फिर आप क्यों घबराते हैं? मैं दावे के साथ कहता हूँ कि संसार-धर्म का पालन करते हुए आप परमानन्द की प्राप्ति के पूर्ण अधिकारी हो सकते हैं, गृहस्थाश्रम का पालन करते हुए परमपिता परमेश्वर को आप प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन हाँ, आपको विदेहराज जनक की तरह कर्मयोगी बनना होगा। और कर्मयोगी बनने के लिए कर्मयोग का सही अर्थ समझ लेना होगा।

हमारे धर्मग्रन्थों में कर्मयोग के तीन भेद किये गये हैं। पहला है कर्मप्रधान कर्मयोग। दूसरा है भक्ति-मिश्रित कर्मयोग। और तीसरा है भक्तिप्रधान कर्मयोग। कर्मप्रधान कर्मयोग में फल एवं आसक्ति का परित्याग करके कर्म किया जाता है। जिस प्रकार एक मुनीम अपने मालिक के हित को रखते हुए, समस्त कर्मों को अपना समझकर करता है, फिर भी लाभ एवं हानि के प्रति विशेष चिन्तित नहीं होता, इसी प्रकार समस्त कर्मों को परमपिता परमेश्वर के मानते हुए यदि हम करेंगे, तो

हम भी मोक्ष के पूर्ण अधिकारी हो सकते हैं।

दूसरा है भक्तिमिश्रित कर्मयोग——

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बन्दौं सब के पदकमल सदा जोरि जुग पानि॥

——जो व्यक्ति 'सियाराममय सब जग जानी' की भावना के साथ समस्त कर्मों को अपना समझकर करता है, उसे भगवान् अपना प्रिय भक्त समझते हैं। देखिए गीता के छठे अध्याय का तीसवाँ श्लोक——

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
जो देखता मुझमें सभी को और मुझको सब कहीं।
मैं दूर उससे हूँ नहीं वह दूर मुझसे है नहीं॥

तीसरा है भक्तिप्रधान कर्मयोग, जिसे दो वर्गों में विभक्त किया गया है। पहले वर्ग में वे लोग आते हैं, जो अपने आप को यन्त्र और भगवान् को यन्त्री समझते हैं। संसार में जो कुछ भी हो रहा है, भगवान् की इच्छा से हो रहा है इस भावना के साथ काम करनेवाले लोग अपने को किसी भी कर्म का कर्ता नहीं मानते। दूसरे वर्ग में वे लोग आते हैं, जो कर्म करने के पश्चात् तत्काल उसे भगवान् को अर्पण कर देते हैं——

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत्।

इस प्रकार कर्मयोग सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं में से आप सुविधानुसार किसी मार्ग का अवलम्बन करके सच्चे अर्थ में कर्मयोगी बन सकते हैं। किन्तु दुःख इस

बात का है कि जनसाधारण के मन में ऐसी गलत धारणा बन गयी है कि अधिकांश लोग 'योग' शब्द को शंका की दृष्टि से देखने लगे हैं। 'योग' शब्द के उच्चारण मात्र से उन्हें ऐसा आभास होता है कि जैसे उन्हें संसार छोड़कर संन्यासी बनने के लिए कहा जा रहा हो। इस प्रकार की शंका रखनेवाले व्यक्तियों से मेरा निवेदन है कि वे 'योग' शब्द का सही अर्थ समझने का प्रयास करें। रामकृष्ण मिशन की सभा को सम्बोधित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि एकाग्रचित्त होकर फलाफल भगवान् को अर्पित करते हुए कर्म करना ही योग है। किन्तु यह जान लेना चाहिए कि एकाग्रता कैसी होनी चाहिए। इसे एक दृष्टान्त के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है।

एक बार गुरु द्रोणाचार्य युधिष्ठिर, दुर्योधन, भीम और अर्जुन की परीक्षा ले रहे थे। सामने पेड़ पर बैठे हुए पक्षी को दिखाते हुए गुरुदेव ने कहा, "तुम्हें निशाना साधकर इस पक्षी की आँख का छेदन करना है।" सर्वप्रथम युधिष्ठिर को परीक्षा हेतु आमन्त्रित किया गया। गुरुदेव ने प्रश्न पूछा, "क्या तुम्हें पक्षी दिखायी दे रहा है?" युधिष्ठिर ने तत्काल उत्तर दिया, "हाँ हाँ गुरुदेव! बिल्कुल स्पष्ट दिखायी दे रहा है। पेड़ की वह डाल जिस पर पक्षी बैठा है, पक्षी के रंग-बिरंगे पंख, उसकी सुन्दर नकली चोंच, कोमल पत्ते आदि सब दिखायी दे रहे हैं।" गुरुदेव ने पूछा, "तुम्हें और क्या दिखायी दे

रहा है ?" युधिष्ठिर ने बड़ी तत्परता के साथ उत्तर दिया, "यह विशाल वृक्ष, नीला आकाश, शस्यश्यामला धरती आदि सब कुछ दिखायी दे रहा है।" यह सुनते ही गुरु द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को परीक्षा में अनुत्तीर्ण घोषित करते हुए निराशा के स्वर में एक तरफ हट जाने के लिए कहा। दुर्योधन को बुलाया गया। दुर्योधन से भी वही प्रश्न पूछा, "क्या तुम्हें पक्षी दिखायी दे रहा है ?" दुर्योधन ने बड़े घमण्ड के साथ उत्तर दिया, "मैं अपनी सूक्ष्म दृष्टि से सब कुछ देख रहा हूँ। पेड़ की वह शाखा जिस पर पक्षी बैठा है और उस शाखा पर चलती हुई नन्ही नन्ही चींटियाँ, कोमल पत्ते, धरती, आकाश, अर्जुन आदि सब कुछ दिखायी दे रहा है।" यह सुनते ही गुरु द्रोणाचार्य ने हँसते हुए कहा, 'तुम्हें सब कुछ दिखायी दे रहा है, लेकिन जो दिखना चाहिए वह नहीं दिखायी दे रहा है। इसलिए तुम भी अलग हट जाओ।" अर्जुन को बुलाया गया। अर्जुन से भी वही प्रश्न पूछा, "क्या तुम्हें पक्षी दिखायी दे रहा है ?" अर्जुन ने बड़ी दृढ़ता के साथ उत्तर दिया, "मुझे तो चारों ओर अन्धकार दिखायी दे रहा है और उस अन्धकार में पक्षी की आँख दीपक की लौ की तरह चमकती हुई दिखायी दे रही है।" गुरुदेव ने बड़े आश्चर्य के साथ पूछा, "क्या पेड़, कोमल पत्ते आदि कुछ भी दिखायी नहीं दे रहे हैं ?" अर्जुन ने बड़ी गम्भीरता के साथ उत्तर दिया, "नहीं गुरुदेव ! मुझे तो पक्षी की आँख के

अतिरिक्त कुछ भी दिखायी नहीं दे रहा है।" यह सुनते ही दुर्योधन ने मजाक उड़ाते हुए कहा, "गुरुदेव ! इसे तो दृष्टिदोष हो गया है।" गुरु द्रोणाचार्य ने दुर्योधन को डाँटते हुए कहा, "चुप रहो !" फिर अर्जुन से कहा, "शाबास, अर्जुन ! तीर छोड़ दो।" तीर छूटते ही पक्षी की आँख का छेदन करते हुए सनसनाता हुआ निकल गया। इस प्रकार एकाग्रचित्त होकर लक्ष्य भेद करनेवाले अर्जुन को सफलता प्राप्त हुई।

यह तो आप सभी अच्छी तरह से जानते हैं कि जब कोई कलाकार--चाहे चित्रकार हो, चाहे मूर्तिकार-- एकाग्रचित्त होकर किसी वस्तु का निर्माण करता है, तो उसमें कुछ अलौकिकता आ जाती है। अर्थात्, प्रत्येक कार्य की सफलता का रहस्य है मन की एकाग्रता। आज ninety-nine percent (निन्नानबे प्रतिशत) विद्यार्थियों की शिकायत है कि पढ़ते तो खूब हैं, लेकिन याद कुछ भी नहीं रहता। आप जानते हैं कि वे कैसा पढ़ते हैं ? पुस्तक का पूरा का पूरा पृष्ठ पढ़ जायेंगे, पर क्या पढ़ रहे थे, कहाँ पढ़ रहे थे, स्वयं नहीं जानते। दुर्भाग्य से यदि पुस्तक बन्द हो जाती है, तो पुनः उसी पृष्ठ को इस प्रकार पढ़ने लगेंगे जैसे उसे कभी नहीं पढ़ा हो। अनेक लोग भगवान् की पूजा करते करते ही न जाने कितने ही गाँवों का सैर-सपाटा कर आते हैं। मन ही मन ग्राहकों से सौदेबाजी भी कर लेते हैं। जप-साधना करते करते ही सम्बन्धियों से रिश्ते तय हो जाते हैं।

और फिर दोष देते हैं भगवान् को।

कर्म सम्बन्धी समस्याओं से तंग आकर अनेक लोग यह तर्क भी देते हैं कि पहले तो कर्म करना, फिर उसे एकाग्रता के साथ करना और ऊपर से फल एवं आसक्ति का परित्याग करना, इस सबसे तो यही अच्छा है कि कर्म का ही त्याग कर दिया जाय। न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी। लेकिन वे लोग इस बात को भूल जाते हैं कि समस्त कर्मों का त्याग असम्भव है। नित्यकर्म तो प्राणी-मात्र के लिए अनिवार्य हैं। भगवान् स्वयं गीता में कहते हैं कि––

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
बिन कर्म रह पाता नहीं कोई पुरुष पल भर कभी।
हो प्रकृति-गुण आधीन बरबस कर्म करते हैं सभी ॥

अतः जब अनिवार्य रूप से कर्म करना ही है, तो फिर उसे एकाग्रता के साथ क्यों न किया जाय? कर्म चाहे लौकिक हो चाहे पारलौकिक, उसे एकाग्रता के साथ करना ही श्रेयस्कर है। और एकाग्रता का दूसरा नाम है योग। अर्थात् प्रत्येक कार्य को योग के साथ कीजिए। बस, आप कर्मयोगी बन जायेंगे। यही गीता का कर्मयोग है।

किन्तु याद रखिए, प्रत्येक कर्म को योग के साथ करने का यह अर्थ नहीं कि आप उस कर्म के प्रति आसक्त हो जायँ, आप उस कर्म से आबद्ध हो जायँ। यदि

आपने कर्म को पकड़ लिया, तो कर्म आपको जकड़ लेगा। इसलिए ईशावास्योपनिषद् के दूसरे मन्त्र को याद रखिए--'न कर्म लिप्यते नरे'। आप संसार में अवश्य रहिए, समस्त सांसारिक कर्मों को पूर्ण एकाग्रता के साथ अवश्य कीजिए, फिर भी कमल के पत्ते की भाँति निर्लिप्त रहिए। यह कैसी विचित्र बात है कि काजल की कोठरी में दिनरात रहें और एक-दो दिन नहीं, कई वर्षों तक रहें, सभी प्रकार के कर्म भी करें, फिर भी काजल का दाग न लगे! ऐसे सिद्धान्त को सुनकर अनेक लोगों के मन में अनेक प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। सिद्धान्त की सत्यता पर सन्देह भी हो सकता है। इसलिए आज की इस चर्चा को समाप्त करने के पूर्व इस विषय पर थोड़ासा विवेचन और कर लें; क्योंकि अनेक श्रोताओं के मन में यह गलत धारणा बन सकती है कि यदि कर्म करेंगे तो दाग अवश्य लगेगा, इसलिए कर्म का ही त्याग क्यों न कर दिया जाय। कई लोग ऐसी गलत धारणा बना भी लेते हैं और दुर्भाग्य से कर्मत्याग के लिए संन्यास-मार्ग की ओर भागते हैं। किन्तु याद रखिए, बिना सोचे-समझे सांसारिक कर्मों से घबड़ाकर यदि संन्यास की ओर भागने का प्रयास किया, तो कर्म का अन्त कभी नहीं होगा। आज मकान बनाने का कर्म कर रहे हैं, तो कल आश्रम बनाने का कर्म करेंगे। आज नौकरी और व्यापार कर रहे हैं, तो कल गली-गली, द्वार-द्वार भीख माँगने का कर्म करेंगे।

आज हम सिले हुए विभिन्न रंग के वस्त्र पहन रहे हैं, तो कल बिना सिले हुए एक ही रंग के वस्त्र पहनेंगे। आज हम गिलास में पानी पी रहे हैं, तो कल कमण्डलु में पानी पीयेंगे। क्या फर्क पड़ेगा ? हाँ, यदि ज्ञान अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाय और कर्म अपने आप घटने लगे, तो आप संन्यास अवश्य ले लीजिए। किन्तु कर्म समाप्त करने के लिए, कर्म से बचने के लिए संन्यास कभी मत लीजिए। किन्तु मेरे इस कथन का यह अर्थ नहीं कि मैं संन्यास का विरोध कर रहा हूँ। अरे, संन्यास तो हमारी संस्कृति का एक अनिवार्य अंग है, हमारी संस्कृति का पोषक है, धर्म का रक्षक है। वह भारत की एक प्राचीन परम्परा है। इसी कारण जीवन का चौथा भाग संन्यास के लिए सुरक्षित रखा जाता था। प्रवृत्ति-मार्ग की भाँति निवृत्तिमार्ग भी भगवत्-प्राप्ति का रास्ता है। और यदि यह कह दिया जाय कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए संन्यास अनिवार्य है, तो शायद कोई अतिशयोक्ति न होगी। मेरे कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि कर्मत्याग को संन्यास मान लेना अन्याय है। अपने दिल और दिमाग से इस गलत धारणा को निकाल दीजिए कि संन्यास लेने से कर्म समाप्त हो जाते हैं। संन्यास लेने से कर्म समाप्त नहीं होते, कर्म का रूपान्तरण हो जाता है। हम आँखों की पलक उठायेंगे तो भी कर्म होगा, गर्दन हिलायेंगे तो भी कर्म होगा। हम उठेंगे, बैठेंगे, खायेंगे, पियेंगे, देखेंगे, सुनेंगे, जो कुछ भी करेंगे कर्म

कहाएगा। हाँ, केवल मुर्दा कर्म नहीं करता। आप उस पर चाहे पत्थर फेंकिए चाहे गोली चलाइए, मुर्दा कभी उसका विरोध नहीं करता, अपने आप को बचाने का प्रयास भी नहीं करता। चाहे उसे अग्नि में झोंक दीजिए, कभी इन्कार नहीं करता। किन्तु जब तक आपके शरीर में प्राण हैं, कर्म का त्याग असम्भव है। आप चाहे निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करें चाहे प्रवृत्तिमार्ग का, आप चाहे ज्ञानमार्गी हों चाहे भक्तिमार्गी, कर्म तो करना ही होगा। जीते-जी कर्म का त्याग असम्भव है।

तो अब केवल समस्या इस बात की है कि काजल की कोठरी में रहते हुए भी बेदाग कैसे रहें? संसार में रहते हुए भी निर्लिप्त कैसे रहें? इस समस्या का निराकरण जब तक नहीं हो जाता, वेदान्त हमारे व्यावहारिक जीवन को सत्य-शिव-सुन्दर से परिपूर्ण नहीं कर सकता। देखिए, जरा ध्यान दीजिए। नाटक या रामलीला को शायद आपने देखा ही होगा। वेदान्त को व्यावहारिक जीवन में लाने के लिए रामलीला की कोई भी एक छोटी-सी घटना ले लीजिए। जैसे, सीताहरण हो जाने के पश्चात् रामलीला के नकली राम रोते हैं, चिल्लाते हैं, पागलों की तरह लता-पत्तों से पूछते हैं, भयंकर विलाप करते हैं और इतना आँसू बहाते हैं जितना शायद असली राम ने भी नहीं बहाया होगा। यहाँ तक कि विलाप करते करते मूर्छित भी हो जाते हैं! किन्तु ज्यों ही पर्दा बन्द हुआ, मूर्छित राम हँसते हुए उठकर चल देते हैं,

गपशप करने लगते हैं, और कभी कभी तो चाय-नाश्ता भी होने लगता है। सीताहरण का कोई दुःख नहीं, हृदय में कोई कष्ट नहीं। रंगमंच पर जो कुछ भी किया, उसका दिल और दिमाग पर कोई असर नहीं। हृदय में कोई निशान नहीं, कोई दाग नहीं। और आप यह भी अच्छी तरह से जानते हैं कि जो कलाकार जितनी एकाग्रता के साथ, जितनी लगन के साथ कार्य करता है, उसे उतना ही श्रेष्ठ कलाकार माना जाता है, उसका अभिनय उतना ही प्रभावशाली माना जाता है। रंगमंच पर किये गये प्रत्येक कार्य के प्रति वह निर्लिप्त रहता है। बस, इसी सिद्धान्त के अनुसार इस संसार को हम एक विशाल रंगमंच समझें, जहाँ जन्म के साथ परदा खुलता है और मृत्यु के साथ परदा बन्द होता है। इस नाटक का एक-एक दृश्य कई वर्षों का होता है। बार बार हम नया जन्म लेकर अर्थात् मेक-अप बदलकर संसार में पार्ट करने को आते हैं और बार बार चले जाते हैं। इसलिए यदि आप वेदान्त को अपने व्यावहारिक जीवन में लाना चाहते हैं, तो अपने आप को रंगमंच का एक कलाकार समझें। समस्त कर्मों को पूर्ण एकाग्रता के साथ अवश्य करें, लेकिन वह सब केवल अभिनय ही समझें, तभी आप समस्त सांसारिक कर्मों को करते हुए भी निर्लिप्त रह सकेंगे और सुख-दुःख के दाग से अछूते रह सकेंगे। वेदान्त को अपने व्यावहारिक जीवन में उतारने का यही उपाय है।

❀

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

१७ फरवरी को स्वामी विवेकानन्द ने जब यूनिटेरियन चर्च में अपना तीसरा व्याख्यान 'मानव का दिव्यत्व' पर दिया, तब तक डिट्रायट के समाचार-पत्र अपनी खामोशी तोड़ चुके थे और इस भाषण की रिपोर्ट अनेक पत्रों ने कुछ हद तक प्रकाशित की। 'फ्री प्रेस' ने दूसरों की अपेक्षा अधिक उदारता दिखलायी। १८ फरवरी के अंक में समाचार इस प्रकार छपा--

"हिन्दू दार्शनिक तथा उपदेशक स्वामी विवे कानन्द ने पिछली रात यूनिटेरियन चर्च में 'ईश्वर का दिव्यत्व' (वास्तव में विषय था 'मानव का दिव्यत्व') पर बोलते हुए अपनी भाषणमाला को, या कहें कि अपने उपदेशों को समाप्त किया। मौसम खराब होने के बावजूद, पूर्वीय बन्धु (जैसा कि वे अपने को कहलाना पसन्द करते है) के आगमन के आधा घण्टा पहले ही गिरजाघर श्रोताओं से दरवाजों तक ठसाठस भर चुका था। इन उत्सुक श्रोताओं में वकील, न्यायाधीश, धर्मोपदेशक, व्यापारी, राबी (यहूदी धर्मशास्त्री) आदि सभी पेशों और व्यापारिक वर्गों के लोग सम्मिलित थे। उन बहुतसी महिलाओं की तो बात ही छोड़ दीजिए, जिन्होंने भाषणों में अपनी लगातार उपस्थिति और तन्मयता के द्वारा इस रहस्यमय आगन्तुक पर अपनी प्रशंसा की वर्षा करने का सुस्पष्ट

मनोभाव प्रदर्शित किया है, जिसकी लोगों को बैठकखाने में खींचने की क्षमता भी उतनी ही अधिक है, जितनी कि व्यासपीठ में।

"पिछली रात का भाषण पहले के भाषणों की अपेक्षा कम वर्णनात्मक था। लगभग दो घण्टे तक विवेकानन्द मानवीय और दैवी कार्यों का दार्शनिक ताना-बाना बुनते रहे। वह इतना युक्तियुक्त था कि उन्होंने विज्ञान को सहज बोध के समान बना दिया। उन्होंने एक सुन्दर तर्कपूर्ण वस्त्र बुना जो विविध रंगों से परिपूर्ण था तथा उतना ही आकर्षक और मोहक था, जितना कि चमकीले रंग-बिरंगे सूतोंवाला हाथ से बुना तथा प्राच्य की मन-मोहक सुगन्धि से भरा उनके देश का वस्त्र होता है। ये रहस्यमय सज्जन काव्यालंकारों का उसी प्रकार प्रयोग करते हैं जिस प्रकार कोई चित्रकार रंगों का प्रयोग करता है और रंग वहीं लगाये जाते हैं जहाँ उन्हें लगना चाहिए। परिणामतः उनका प्रभाव कुछ विचित्र-सा होता है, पर फिर भी उनमें एक विशेष आकर्षण होता है। भाषण के समय तेजी के साथ निःसृत होनेवाले उनके तार्किक निष्कर्ष कैलिडोस्कोप में देखे जानेवाले अनवरत परिवर्तनशील चमकीले दृश्यों के समान होते थे। इस कुशल वक्ता के प्रयत्नों की सार्थकता समय समय पर होनेवाली उत्साहपूर्ण करतल-ध्वनि से प्रदर्शित होती थी।

"भाषण के प्रारम्भ में उन्होंने कहा कि उनसे बहुत से प्रश्न पूछे गये हैं। उनमें से कुछ का उत्तर वे अलग से

देना पसन्द करेंगे, पर तीन प्रश्न उन्होंने मंच से उत्तर देने के लिए चुने हैं, जिसका कारण स्पष्ट हो जायगा। वे हैं --

" 'क्या भारत के लोग अपने बच्चों को घड़ियालों के जबड़ों में झोंक देते हैं ?'

" 'क्या वे जग्गरनाट (जगन्नाथ) के पहियों के नीचे दबकर आत्महत्या करते हैं ?'

" 'क्या वे विधवाओं को उनके पतियों के साथ जला देते हैं ?'

"प्रथम प्रश्न का उत्तर उन्होंने इस ढंग से दिया जिस ढंग से बाहर गया हुआ कोई अमेरिकन विदेशों में प्रचलित न्यूयार्क की सड़कों पर दौड़नेवाले 'रेड इण्डियन्स' एवं ऐसी ही किम्वदन्तियों से सम्बन्धित जिज्ञासाओं का समाधान करता है। वक्तव्य इतना हास्यास्पद था कि उस पर गम्भीरता से सोचने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ी। परन्तु जब कुछ नेकनीयत किन्तु अनभिज्ञ व्यक्तियों के द्वारा यह पूछा गया कि वे केवल छोटी छोटी लड़कियों को ही क्यों घड़ियालों के आगे डालते हैं, तो उन्होंने व्यंग्योक्ति की कि शायद इसलिए कि वे अधिक कोमल और मृदु होती हैं तथा अन्धविश्वासी देश की नदियों के जीवों द्वारा अधिक आसानी से चबायी जा सकती हैं ! जगन्नाथ की किम्वदन्ती के सम्बन्ध में वक्ता ने उस नगर की पुरानी प्रथा को स्पष्ट किया और कहा कि सम्भवतः कुछ लोग रस्सी पकड़ने तथा रथ खींचने

के उत्साह में फिसलकर गिर जाते थे और इस प्रकार उनका अन्त हो जाता था। कुछ ऐसी ही दुर्घटनाओं को विकृत विवरणों में अतिरंजित किया गया है, जिनको सुनकर दूसरे देशों के भले लोग सन्त्रस्त हो उठते हैं। विवेकानन्द ने अस्वीकार किया कि लोग विधवाओं को जला देते हैं। यह सत्य है कि विधवाएँ अपने आप को जला देती रही हैं। पर जब भी ऐसी कुछ घटनाएँ हुई, वहाँ के धार्मिक पुरुषों और पुरोहितों ने, जो सदैव आत्महत्या के विरुद्ध रहे हैं, उन्हें ऐसा करने से रोका है। पर जब पतिव्रता विधवाओं ने यह आग्रह किया कि वे देह त्यागकर अपने पति का अनुगमन करने को तत्पर हैं, तो उन्हें पहले अग्निपरीक्षा देने के लिए बाध्य होना पड़ा। अर्थात् पहले उन्होंने अपने हाथ आग में डाले और जब उन्हें जल जाने दिया, तब आगे उनकी इच्छापूर्ति के मार्ग में कोई बाधा नहीं डाली गयी। पर भारत ही अकेला देश नहीं है, जहाँ स्त्रियों ने प्रेम किया हो और अपने प्रेमी का अमरलोक तक तुरन्त अनुगमन किया हो। प्रत्येक देश में ऐसी स्थिति में आत्महत्याएँ हुई हैं। ऐसी कट्टरता किसी भी देश में देखी जा सकती है। तथापि वह किसी भी देश में आम बात नहीं है। वह भारत में उतनी ही विरली है, जितनी कि अन्यत्र। वक्ता ने दुहराते हुए कहा—'नहीं, भारत में लोग स्त्रियों को नहीं जलाते और न कभी उन्होंने डायनों को ही जलाया है!'

"मूल व्याख्यान की ओर आकर विवेकानन्द ने आत्मा

का स्वरूप, भगवान् के साथ जीव का सम्बन्ध, सब धर्मों की सत्यता, अलग अलग स्वभाव के अनुरूप अलग अलग धर्मों का प्रयोजन इत्यादि विषयों का सुन्दर विवेचन किया। ईसाई जगत् के इस 'गोल्डन रूल' (स्वर्णिम नियम) की कि 'तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम अपने साथ चाहते हो,' विवेचना करते हुए उन्होंने कहा, 'यह स्वर्णिम नियम भी कितना कुत्सित है। हर समय केवल मैं ! केवल मैं ! यही ईसाई मत है ! दूसरों के प्रति वही करना जैसा तुम दूसरों से अपने प्रति कराना चाहो। यह एक भयावह, असभ्य और जंगली मत है।' उनका अभिप्राय ईसाई धर्म की निन्दा करना नहीं है। जो इसमें सन्तुष्ट हैं, उनके लिए यह बिल्कुल अनुकूल है। महती धारा को बहने देना चाहिए। जो इसके मार्ग को बदलने की चेष्टा करता है, वह मूर्ख है। प्रकृति स्वयं ही अपना समाधान ढूँढ़ लेती है। अध्यात्मवादी (शब्द के सही अर्थ में) और भाग्यवादी विवेकानन्द ने अपने मत के ऊपर बल देकर कहा कि सभी सही हैं तथा उनका इरादा ईसाइयों का धर्म परिवर्तित करना नहीं है। यह एक उत्तम बात है कि ये सब लोग ईसाई हैं, और यह भी उत्तम है कि वे स्वयं हिन्दू हैं। उनके देश में विभिन्न स्तर के लोगों की आवश्यकता के अनुसार विभिन्न मतों की रचना हुई है। ये सब आध्यात्मिक विकास की प्रगति की ओर निर्देशित करते हैं। हिन्दू धर्म स्वार्थ पर केन्द्रित अहम्मन्यता का, पुरस्कार के वायदों

तथा दण्ड के भय का धर्म नहीं है। वह निःस्वार्थता द्वारा अनन्त आत्मभाव को प्राप्त होने का मार्ग दिखाता है। मनुष्य को ईसाई बनाने के लिए घूस देने की यह प्रणाली, जिसे उस ईश्वर से प्राप्त बताया जाता है जिस ईश्वर ने पृथ्वी पर अपने को कुछ विशेष लोगों के बीच प्रकट किया, बड़ी ही अन्यायपूर्ण है। यह घोर अनैतिक बनानेवाली है तथा इसे अक्षरशः मान लेने पर ईसाई धर्म के धर्मान्धों के नैतिक स्वभावों पर इसका बड़ा शर्मनाक असर पड़ता है। इससे अनन्त आत्मा की उपलब्धि का समय और भी दूर हट जाता है।"

'डिट्रायट ट्रिब्यून' ने १८ फरवरी को अपने सम्पादकीय में स्वामीजी के इन तीन व्याख्यानों---'भारत के रीति-रिवाज', 'हिन्दू दर्शन' तथा 'मानव का दिव्यत्व'---की विवेचना करते हुए 'हमारे बीच हिन्दू' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा---

"भारत तथा वहाँ के निवासियों के बारे में जिनकी धारणा प्रमुखतः स्कूली पुस्तकों में छपे चित्रों को देखकर बनी है, जिनमें हिन्दू माता को गंगा के किनारे अपने बच्चे को मगर के मुख में फेंकते तथा जग्गरनाट (जगन्नाथ) के रथ के नीचे बीसियों लोगों को दबकर पिसते दिखाया गया है, उन्हें वहीं के निवासी स्वामी विवेकानन्द को सुनकर अवश्य बड़ा अचरज हुआ होगा, जो लगातार घण्टे-दो घण्टे तक अपने देश के रीति-रिवाज, धर्म तथा दर्शन पर विज्ञ अमरीकी श्रोताओं के सम्मुख बोलते रहे

हैं तथा उनका ध्यान परम निःस्तब्धता के साथ केन्द्रित करते रहे हैं। ये 'हीदन' हमारे प्लैटफार्मों तथा मंचों से सुनी जानेवाली अंग्रेजी की अपेक्षा अधिक उत्तम अंग्रेजी बोलते हैं तथा जिस परिहास के साथ अपना वर्णन मनोरंजक बनाते हैं उसका सानी हमारी जनसभाओं में बोलनेवाले हमारे जाने-माने कोई भी वक्ता नहीं कर सकते। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर है, एक तरह से अद्‌भुत है, और यदि वे किसी ऐसे मत पर, जो उन्हें नापसन्द है, आघात करते हैं, तो वह मानो सुई की नोंक से करते हैं, न कि भाले से। उनका स्टेज पर चलते हुए बोलना कभी कभी स्वगत-भाषण सा प्रतीत होता है तथा वे जॉन फिस्के (डार्विन मत के एक लोकप्रिय व्याख्याता) की याद दिलाते हैं।

"विवेकानन्द की सराहना करने अथवा उनका आनन्द प्राप्त करने के लिए यह जरूरी नहीं कि व्यक्ति हिन्दू बने अथवा हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों के प्रति सहानुभूति रखे। विवेकानन्द, जिन्होंने गत सप्ताह तीन व्याख्यान दिये, बिना किसी विशेष प्रयास के लगातार बीसियों दिन प्रत्येक शाम को नये विषयों और नये विचारों के साथ बोल सकते हैं। उनके सम्बन्ध में ऐसी कल्पना करना कठिन है कि वे अपना भाषण पढ़ रहे हों, अथवा समय हो जाने के अलावे अन्य किसी कारण से उन्होंने अपना भाषण समाप्त कर दिया हो। उन्हें किसी भी प्रकार बातूनी नहीं कहा जा सकता। पर जब वे

भाषण के दौरान बोलना शुरू करते हैं तब उनकी वाग्मिता और प्रत्युत्पन्नमतिता तथा भावव्यंजना की उनकी कुशलता प्रशंसा से परे हो जाती है।

"यह एक शुभ संकेत है कि ईसाई अपने धर्म के अतिरिक्त दूसरे धर्मों को सुनने के लिए उत्सुक हैं। यह एक आशापूर्ण स्थिति है कि एक विद्वान् ईसाई एक हिन्दू विद्वान् से मिलता है तथा उसके विचारों को आदर के साथ सुनता है। शिकागो की धर्मसभा को धर्मों के इतिहास में युगान्तरकारी कहा जायेगा। उसने विभिन्न मतावलम्बियों को यह दर्शाया है कि प्रत्येक को एक-दूसरे से कुछ सीखना है। धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में वह एक महान् और सार्थक उपयोग सिद्ध हुआ है। इस हिन्दू विद्वान् का हमारे बीच आविर्भाव भी उसी का एक परिणाम है। मोहम्मद अथवा कन्फ्यूशस के अनुयायियों को सुनने से हमें कोई आघात नहीं होगा। धर्मों का यह तुलनात्मक अध्ययन कोई पुरानी विद्या नहीं है, पर आज वह एक अत्यन्त उपयोगी ढंग से उन्नीसवीं शताब्दी की प्रगति की सूचना देता है।"

(क्रमशः)

धर्मप्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

(श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ एवं मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। विभिन्न अवसरों पर दिये गये उनके कुछ आध्यात्मिक उपदेश कतिपय संन्यासियों एवं भक्तों द्वारा लिपिबद्ध कर लिये गये थे। उन्हीं उपदेशों का कुछ अंश मूल बँगला ग्रन्थ के रूप में 'उद्बोधन कार्यालय' द्वारा प्रकाशित किया गया। हम इस अंक से उसी ग्रन्थ का अविकल धारावाहिक अनुवाद 'उद्बोधन कार्यालय' के सौजन्य से प्रकाशित कर रहे हैं। प्रारम्भ में स्वामी ब्रह्मानन्दजी की जो संक्षिप्त जीवनी है उसके मूल लेखक हैं श्री देवेन्द्रनाथ वसु। अनुवादक हैं रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष स्वामी व्योमानन्द।--सं०)

श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, 'राखाल मेरा पुत्र है--मानसपुत्र।' इसका अर्थ समझने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। किन्तु एक लौ से उसके ही समान एक दूसरी लौ का लगना ही यदि इस वाणी का तात्पर्य हो, तो पिता-पुत्र दोनों को देखने का असीम सौभाग्य जिन्हें मिला है, वे ही कुछ अंश तक श्रीरामकृष्ण देव के उपर्युक्त कथन की उपलब्धि कर सकेंगे।

जो लोग श्रीरामकृष्ण देव के इस मानसपुत्र के घनिष्ठ सम्पर्क में आये थे, वे कहते हैं कि महाराज * अमित ब्रह्मतेज-सम्पन्न थे, उनकी बहुमुखी शक्ति स्रोतस्वती की भाँति शत-शत दिशाओं में प्रवाहित होती थी। किन्तु इतना तेज, इतनी शक्ति किस तरह मृण्मय आधार में

---

* श्रीरामकृष्ण संघ में जिस प्रकार स्वामी विवेकानन्द संक्षेप में 'स्वामीजी' के नाम से परिचित हैं, उसी प्रकार स्वामी ब्रह्मानन्द 'महाराज' के नाम से।

इतनी शान्त रहती थी, इसे भला कोई कैसे जाने। बिजली का तार देखने में तो निर्जीव है, किन्तु स्पर्श करने से मालूम पड़ता है कि उसमें कितनी अमोघ शक्ति छिपी है। कहते हैं कि ब्रह्मज्ञ पुरुष का शरीर मृण्मय नहीं होता--चिन्मय होता है। किन्तु इन चिन्मय पुरुष के संस्पर्श में आने से यह बात सहज ही समझ में नहीं आती थी। अहा, किस अलौकिक प्रेम से वे सबको भुलाये रखते थे! जो भी इन पुरुषोत्तम के चरणों के निकट उपस्थित हुआ है--चाहे वह निर्मलचित्त साधु हो, भक्त हो या ब्रह्मचारी, चाहे जीवन के पापों से तप्त, दुःखी, पतित और कलंकित हो-- उसने देखा है और अपने हृदय के भीतर इस सत्य की अनुभूति की है कि जिसके साथ बात करने में भी मन संकुचित होता है, ऐसे उपेक्षित व्यक्ति को भी महाराज अपनी स्नेहधारा में डुबो ले रहे हैं! आत्मीय-स्वजन जिस व्यक्ति का नाम तक सुनने में संकुचित होते थे, उसकी भी पूछताछ महाराज कितने स्नेह-विगलित स्वर से करते थे! जो अभागा सबके द्वारा परित्यक्त था, उसे भी महाराज ने कितने प्रेम से बाँधा था! जिसके लिए कहीं भी स्थान नहीं, महाराज का द्वार उसके लिए सदैव खुला रहता था। इस उदार विश्वप्रेम के अमृत का आस्वादन करनेवाला सहसा यह धारणा नहीं कर पाता था कि इन निश्चिन्त, शान्त, शिवमय पुरुष में कितना महान् त्याग, कठोर वैराग्य, अतुलनीय तितिक्षा, कितना ज्ञान, कितनी भक्ति, निष्काम कर्म के

प्रति कैसी लगन है, जो संसार के मोह का निवारण करनेवाली एक महाशक्ति के उद्‌बोधन के लिए शान्त भाव से प्रतीक्षारत है ! भिक्षु उनकी अप्रत्याशित करुणा प्राप्त कर कृतार्थ हो लौटता था; ज्ञानी ज्ञान-चर्चा में उनकी इति नहीं कर सकता था; भक्त उस भक्तिसिन्धु में तैरकर किनारा नहीं पा सकता था; कर्मी कर्म-कौशल में उनसे हार मान लेता था; संशयी विश्वास-बल प्राप्त करता था; संसारी संसार-धर्म का गूढ़ अर्थ समझ लेता था; रसिक उनकी रस-स्फूर्ति से हँसी से लोटपोट होने लगता था; साधक उनसे साधना का उच्च तत्त्व प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता था; उनके सम्पर्क में आकर हताश चित्त उत्साह से और भग्न हृदय आशा के हिलोरों में झूमने लगता था; और इधर देखिए तो ये ही महाराज बालक के साथ बालक बनकर खेल रहे हैं !

महाराज जिस महाराज्य के चक्रवर्ती सम्राट् थे, वहाँ दुःख, दैन्य, शोक को प्रवेश करने का अधिकार नहीं था; षड्‌रिपु अपना सिर उठा नहीं सकते थे। इस राज्य की प्रजा महाराज के मधुर सरल स्वभाव और व्यवहार को देखकर सोचती थी कि मैं ही उनको सबसे प्रिय हूँ; तथापि कोई भी व्यक्ति अपने अधिकार की लक्ष्मण-रेखा को पार कर अनधिकार व्यवहार करने का साहस नहीं कर सकता था। इस राज्य में प्रवेश करने पर मालूम होता था, मानो मैं संसार में बहुत ऊँचे किसी एक अति आश्चर्यपूर्ण आनन्दमय लोक में आ गया हूँ, जहाँ द्वेष

का वास नहीं है, द्वन्द्व स्पन्दनहीन है और आनन्द निर्बाध है। श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द ने उनके बारे में कहा था, "आध्यात्मिकता (spirituality) में राखाल हम सब लोगों से बड़े हैं।" उनका माहात्म्य जिन्होंने समझा है, वे धन्य हैं। पर दुःख की बात तो यह है कि जहाँ एक ओर मानव इस आध्यात्मिकता से देवता बन जाता है, वहाँ उसकी देह चिरंजीवी नहीं होती ! तथापि शरीर का विनाश होने पर भी उसकी स्मृति अविनाशी है। दुर्लभ रत्न जब सुदुर्लभ होता है, तब हृदय के एकान्त गह्वर में स्मृति मानो उस रत्न को पूजा करने के लिए जकड़ लेती है।

श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज ने सन् १८६२ ई० में जन्मग्रहण किया। उनका जन्मस्थान था बसिरहाट के निकट सिकरा ग्राम; पूर्व नाम था राखालचन्द्र। उनके पिता आनन्दमोहन घोष सम्पन्न व्यक्ति थे। राखाल उनके ज्येष्ठ पुत्र थे। आनन्दमोहन की प्रथम पत्नी का देहान्त होने के बाद उन्होंने दूसरा विवाह किया था।

श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, "राखाल नित्यसिद्ध है, जन्म-जन्म से ईश्वर का भक्त है। कई लोगों के तो कठोर साधना करने पर तब कहीं थोड़ी भक्ति होती है; पर इसका तो जन्म से ही ईश्वर पर प्रेम है--जैसे स्वयम्भू शिव, स्थापित किये हुए शिव के समान नहीं !" आनन्दमोहन ने इस स्वयम्भू शिव को संसारी बनाने के लिए किशोरावस्था में ही उसका विवाह कर दिया। कोन्नगर के विख्यात मित्र-परिवार में राखालचन्द्र का

विवाह हुआ। पिता ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि जिस बन्धन-सूत्र से मनुष्य का माया-बन्धन दृढ़तर होता है, उसी सूत्र को पकड़कर पुत्र अपने जीवन का महान् आदर्श प्राप्त कर लेगा और संसार-बन्धन को छिन्न कर देगा।

जिस परिवार में राखालचन्द्र का विवाह हुआ था, वह भक्तों का संसार था। उनकी सास पहले से ही श्रीरामकृष्ण-पदाश्रिता थीं; अपने पुत्र और कन्या के साथ वे प्राय: ही दक्षिणेश्वर में देव-दर्शन करने आया करती थीं। राखालचन्द्र के ज्येष्ठ साले मनोमोहन अपने बहनोई की भगवद्भक्ति को देख बहुत ही आनन्दित हुए और एक दिन उन्हें श्रीरामकृष्ण देव के पास ले आये। सन् १८८१ ई० में श्रीरामकृष्ण देव के साथ राखालचन्द्र का प्रथम मिलन हुआ।

श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे, "मैं जगन्माता से कहा करता—'माँ! इच्छा होती है कि एक शुद्धसत्त्व, त्यागी भक्तबालक मेरे पास सर्वदा रहे।' एक दिन देखा, माँ ने एक बालक लाकर मेरी गोद में बिठा दिया और कहा—'यह रहा तुम्हारा पुत्र।' मैं तो काँप उठा। माँ ने मेरा मनोभाव भाँपकर हँसते हुए कहा—'साधारण सांसारिक रूप से पुत्र नहीं, यह त्यागी मानसपुत्र है।' राखाल के आते ही मैं पहचान गया कि यह वही है।"

राखालचन्द्र को देखकर श्रीरामकृष्ण 'गोविन्द' 'गोविन्द' कहते कहते महाभावसमाधि में लीन हो जाते थे। कभी अपार स्नेहमयी जननी का प्रेम प्रकट करते

हुए उसे अपने हाथ से खिला देते। राखाल उस समय यौवन में पदार्पण कर चुके थे, तो भी स्वभाव में वे शिशु के समान थे। उनके साथ श्रीरामकृष्ण शिशुवत् क्रीड़ा करते। किन्तु इस वात्सल्यरूपी खेल को आनन्दमोहन ने प्रेम की दृष्टि से नहीं देखा। उन्होंने लक्ष्य किया कि जब कभी पुत्र ससुराल जाता है तो दो-तीन दिन दक्षिणेश्वर में बिता आता है। इस पर पहले उन्होंने आपत्ति की और पुत्र का तिरस्कार भी किया; किन्तु उससे कोई फल नहीं हुआ। अवसर पाते ही पुत्र साधु के पास दौड़ जाता। आनन्दमोहन संसारी आदमी थे, नानाविध सांसारिक कार्यों से उन्हें इधर-उधर घूमना पड़ता था। अतः पुत्र को वे हमेशा आँखों के सामने नहीं रख पाते थे। बालक को रोकने के लिए पिता ने आखिर निरुपाय हो कमरे में बन्द कर दिया। बाधा पाकर बालक का मन अवरुद्ध स्रोत के समान और भी वेगवान हो उठा।

इस ओर सर्वत्यागी श्रीरामकृष्ण अपने मानसपुत्र के लिए माँ के पास व्याकुल हो रोते रोते कहने लगे, "माँ! मेरे राखालराज को ला दो।" एक आश्चर्यमय दैवी विधान से आनन्दमोहन एक कठिन मुकदमे में फँस गये। कागजपत्र देखकर कलकत्ता के श्रेष्ठ वकीलों और बैरिस्टरों ने कहा कि जीतने की कोई आशा नहीं है। किन्तु आनन्दमोहन हठ न छोड़ सके। अपनी हार निश्चित जानकर भी मुकदमा चलाने लगे--शत्रु को तंग तो करना ही होगा ! पर वकीलों का अनुमान व्यर्थ हुआ। आनन्द-

मोहन की अत्यन्त दुराशा भी जिसकी कल्पना नहीं कर सकती थी, वही हुआ। हार की जगह जीत हुई। मुकदमे-मामले में कुशल आनन्दमोहन ने समझा कि यह अघटन-घटना निश्चय ही दैवकृपा है, पुत्र के साधुसंग का फल है। तब से राखालचन्द्र की सभी बाधाएँ दूर हो गयीं। पिता ने उसके बन्द कमरे का द्वार खोल दिया। पिंजरामुक्त पक्षी असीम आनन्द में मग्न हो खेलने-घूमने लगा। आनन्दमोहन विचार करने लगे––ये साधु कौन हैं? उन्हें देखने के लिए वे स्वयं एक दिन दक्षिणेश्वर में उपस्थित हुए। राखालराज को सर्वदा अपने पास रख सकने के अभिप्राय से श्रीरामकृष्ण देव ने आनन्दमोहन की विशेष खातिरदारी की। पुत्र के प्रति उनकी स्नेह-दृष्टि आकर्षित करते हुए श्रीरामकृष्ण कहने लगे, "अहा! देखो, देखो, आजकल राखाल का मनोभाव कितना सुन्दर है! उसके मुख की ओर देखो; ओंठ हिल रहे हैं, भीतर ही भीतर सर्वदा ईश्वर का नाम जप रहा है। यदि कहो कि उसका तो विषयी के यहाँ जन्म हुआ है और जन्म से ही वह विषयी लोगों के संग में है, तब भला ऐसा क्यों होता है? तो उसका उत्तर है। चने का दाना यदि घूरे में भी पड़े तो उससे चने का ही पौधा होगा। उस चने से कितना अच्छा काम होता है। राखाल जो यहाँ आता है, उसमें क्या आपकी सम्मति नहीं है?"

आनन्दमोहन ने देखा, यहाँ बहुत से वकील, अफसर एवं डाक्टरों का समागम होता है, संसारी कार्यों को

निपटाने की बहुत सुविधा है; और यह सब सुअवसर अपने पुत्र के माध्यम से ही मिलने की सम्भावना है। अतः उन्होंने कहा, "यह क्या कहते हैं, महाशय! राखाल तो आपका ही लड़का है। आपके पास ही रहे, किन्तु बीच बीच में एक-दो दिन के लिए उसे मेरे पास भेज दिया करें।" श्रीरामकृष्ण अपार आनन्दसागर में मग्न हो गये।

पिता की अनुमति पाकर राखालचन्द्र अब श्रीरामकृष्ण के पास से जाना नहीं चाहते थे। बहुत समझाकर श्रीरामकृष्ण बीच बीच में उन्हें घर भेज देते; किन्तु राखाल के आँखों से ओझल होते ही वे उस पक्षी की तरह छटपटाने लगते, जिसका बच्चा छीन लिया गया हो। राखाल भी घर जाकर बेचैन हो जाते।

इसी बीच राखाल की सास एक दिन दक्षिणेश्वर आयीं। साथ में राखाल की पत्नी थी। वे श्रीरामकृष्ण से यह जानना चाहती थीं कि अपनी पत्नी के साथ रहने से राखाल की भगवद्-भक्ति में किसी तरह हानि तो न होगी। श्रीरामकृष्ण ने राखाल की स्त्री के लक्षण विशेष रूप से देखे। उन्होंने जाना कि कन्या सुलक्षणा है, वह ईश्वर-लाभ में पति की सहायता करेगी। श्रीरामकृष्ण-भक्त-जननी श्रीमाँ सारदा देवी उस समय दक्षिणेश्वर में थीं। बालिका को उनके पास भेजकर श्रीरामकृष्ण ने सन्देशा भेजा कि रुपया देकर पुत्रवधू का मुख देखें।

इस ओर पिता-पुत्र में अपूर्व स्नेह-लीला होने लगी। कभी वे साक्षात् व्रज के राखालभाव से 'गोपाल' 'गोपाल'

कहकर राखाल के मुख में कौर डाल देते, और कभी व्रज के भाव में विभोर हो उसे कन्धे पर बिठा लेते। यदि कोई व्यक्ति श्रीरामकृष्ण की बात न सुनता, तो वह दण्डित होता था, किन्तु राखाल के बात न सुनने पर उन्हें आनन्द होता था। भोजन के बाद एक दिन श्रीरामकृष्ण ने कहा, "अरे राखाल! पान बना ला, पान नहीं है।"

राखालराज ने साफ जवाब दिया, "मुझे पान बनाना नहीं आता।"

"यह कैसी बात है रे! पान बनायेगा, उसमें आना, न आना क्या है, रे! जा, पान बनाकर ले आ।"

"नहीं बना सकूँगा, महाशय!"

श्रीरामकृष्ण हँसते हँसते लोट-पोट हो गये। यदि कोई व्यक्ति उनके इस मानसपुत्र को कुछ करने के लिए कहता तो वे तुरन्त मनाही कर देते; कहते, "अहा, वह दुधमुँहा बच्चा है, उसे तुम लोग कोई काम करने को न कहो। उसका स्वभाव बहुत ही कोमल है।"

फिर भी श्रीरामकृष्ण इस कोमल स्वभाववाले राखाल को उसके कल्याण के लिए दण्ड देने में कुण्ठित नहीं होते थे। एक दिन राखाल को बहुत भूख लग आयी। उसी समय कालीमाई के मन्दिर से प्रसाद का मक्खन आया। बालकस्वभाव भूखे राखाल ने किसी को कुछ न कह मक्खन का गोला अपने मुख में डाल लिया। पुत्र का ऐसा आचरण देख पिता ने उसे डाँट सुनायी, "तू तो बड़ा लोभी दिखता है रे! यहाँ आकर लोभ

इत्यादि का त्याग करना तो दूर रहा, सब मक्खन स्वयं ही गटक गया।" श्रीरामकृष्ण की डाँट से मक्खन का गोला राखालराज के गले में ही अटक गया। उसकी दोनों आँखों से आँसू झरने लगे। दोष देखने पर श्रीरामकृष्ण राखाल को स्वयं डाँटते थे, किन्तु यदि कोई दूसरा उसके दोष के बारे में चर्चा करता तो वे कहते, "राखाल की गलती नहीं पकड़ना, उसका गला दबाने से दूध निकलता है!"

श्रीरामकृष्ण के अनन्त प्रेम को देखकर राखालराज सोचने लगे---ये मेरे ही हैं। मेरे प्रेमधन को कहीं कोई खींच न ले, इस आशंका से राखाल का मन भक्त-समागम के कारण कभी कभी अभिमान और ईर्ष्या से भर जाता था। श्रीरामकृष्ण के प्रति यदि कोई थोड़ा भी अनादर या उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करता, तो राखालराज असह्य क्रोध से अधीर हो जाते थे। एक बार किसी ब्राह्मसमाजी के मकान में श्रीरामकृष्ण को भोजन के लिए निमंत्रण दिया गया। राखालराज साथ में थे। भजन समाप्त होने पर भोजन की पंगत बैठी। कर्ता-धर्ता लोग आत्मीय-स्वजनों को ही लेकर व्यस्त रहे। श्रीरामकृष्ण हँसते हँसते कहने लगे, "क्या बात है रे, कोई बुला भी तो नहीं रहा है!"

राखाल की क्रोधाग्नि अब तक भीतर ही भीतर सुलग रही थी। उन्होंने यथासम्भव क्रोध और आवाज को दबाकर कहा, "आइए चलें, महाशय; दक्षिणेश्वर चले चलें।"

श्रीरामकृष्ण ने मुस्कराकर कहा, "वाह रे क्रोध!

पैसा तो है नहीं, और देख लो क्रोध ! इतनी रात बीते भला खाना कहाँ से मिलेगा, और गाड़ी-भाड़ा भी कौन देगा ? सिर्फ ताव दिखाने से तो नहीं बनेगा ।"

फिर भी राखाल ने कहा, "चलिए, महाशय ! वहाँ जो भी होगा देखा जायगा ।"

श्रीरामकृष्ण ने कहा, "मैं पूड़ी खाने आया हूँ, पूड़ी खाये बिना नहीं जाऊँगा ।"

निष्फल क्रोध में राखाल बैठे बैठे फूलने लगे । कुछ देर बाद उन लोगों को बुलावा आया । भोजन के बाद गाड़ी में आते समय श्रीरामकृष्ण ने कहा, "वैसा नहीं करना चाहिए । तुम लोग साधु-भक्त हो, कुछ खाये बिना चले आने से गृहस्थ का अकल्याण होता है । गृहस्थ के यहाँ जाने से, उसके कुछ न देने पर भी, कम से कम एक गिलास पानी या एक पान माँगकर खा लेना ।"

इस तरह दिन बीतने लगे । दिन-प्रतिदिन राखाल-राज में अद्भुत परिवर्तन दिखायी देने लगा । भीतर में भक्ति की लहरें उठ रही थीं, अनुराग का अविराम स्रोत बह रहा था । वे सर्वदा मानो नशे में डूबे रहते थे ! जप करते करते वे बड़बड़ाते रहते । गुरुसेवा की ओर लक्ष्य न रह गया । श्रीरामकृष्ण कहते, "राखाल का ऐसा स्वभाव हो रहा है कि अब मुझे ही उसे पानी देना पड़ता है !"

श्रीरामकृष्ण जान गये थे कि राखाल अब संसार में आसक्त नहीं होगा । फिर भी वे कहते, "उसका भोग अभी पूरा नहीं हुआ है, थोड़ा बाकी है ।" बीच बीच

में वे जोर करके उससे घर जाने के लिए कहा करते। राखाल कहते थे, "संसार मुझे फीका लगता है। कभी कभी तुम भी मुझे अच्छे नहीं लगते।" इस तरह तीन वर्ष बीत गये। ससुराल से निमंत्रण आता और दामाद उसे अस्वीकार कर देते। आत्मीय-स्वजन एवं पड़ोसी लोग एक दिन उनकी सास से दुःखित हृदय से कहने लगे, "दामाद क्या आखिर में संन्यासी हो जायगा?" भक्तिमती सास ने बड़े उत्साह से उत्तर दिया, "मेरा क्या ऐसा सौभाग्य होगा?"

सन् १८८४ ई० में राखाल अस्वस्थ हो गये। वे वायु-परिवर्तन के लिए वृन्दावन गये। वहाँ उनका स्वास्थ्य सुधरने लगा। वे विभोर हो वृन्दावन के दृश्य देखने लगे। व्रज के माधुर्यमय सौन्दर्य से मानो व्रज का राखाल आज पूर्वस्मृति की उद्दीपना से मोहित हो गया हो। वही तो यमुना है--कृष्ण के ध्यान में श्यामांगिनी बनी हुई, श्याम के गुणगान में विभोर हुई! भ्रमरों के गुंजार से गूँजता वही तो निकुंज है, समीर के झोंकों से हिलते-डुलते वही तो नील तमालपुंज हैं! प्रेम की मस्ती में पक्षी गा रहे हैं, मोर नाच रहे हैं! राखालराज ने अपने एक गुरुभाई को पत्र लिखा, "यह बहुत ही उत्तम स्थान है। आप आइए। मयूर-मयूरी नृत्य करते हैं। नृत्यगीत होता है, सदैव आनन्द है।" किन्तु पुनः वे बीमार हुए--वृन्दावन का बुखार। श्रीरामकृष्ण बड़े चिन्तित हुए। कहने लगे, "राखाल सचमुच ही व्रज का राखाल है। जो जिस स्थान से आकर शरीर धारण करता है, वहाँ जाने

से प्राय: उसका देहत्याग हो जाता है !" अश्रुपूर्ण लोचनों से श्रीरामकृष्ण ने श्रीचण्डी माँ से प्रार्थना की, "माँ ! अब क्या होगा ? उसे अच्छा कर दो। वह तो घर-द्वार छोड़कर मुझी पर पूरा निर्भर है।" अन्यान्य भक्तों के पास राखाल की अस्वस्थता का उल्लेख कर उन्होंने कहा, "मयूर-मयूरी अब किस तरह नाच दिखा रहे हैं, देखो !"

कुछ माह बाद राखालराज वृन्दावन से वापस आ गये और घर में रहने लगे। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "राखाल अभी पेन्शन पर है।" प्रारब्ध के फल से राखाल को एक पुत्र हुआ। उस समय श्रीरामकृष्ण के गले का रोग (कैन्सर) शुरू ही हुआ था। भक्तगण प्राणपण से गुरु-सेवा कर रहे थे। राखालराज आकर उन लोगों के साथ मिल गये। अब यह देखकर उनके मन में ईर्ष्या या अभिमान का भाव उदय नहीं हुआ कि दूसरे लोग भी श्रीरामकृष्ण की सेवा कर रहे हैं। उन्होंने कहा, "मद्‌गुरु श्रीजगद्‌गुरु ! वे क्या केवल हम लोगों के लिए ही आये हैं ?"

भक्तों की सेवा को निष्फल बनाती हुई श्रीरामकृष्ण की व्याधि दिनोंदिन बढ़ने लगी। राखालराज चिन्तित हो श्रीरामकृष्ण से कहने लगे, "आप उपाय बताइए जिससे आपकी देह बनी रहे।" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "वह तो ईश्वर की इच्छा है।"

जो लोग घर-बार छोड़कर गुरुसेवा में रत हुए थे, राखालराज को छोड़ उनमें से प्राय: सभी बाल-ब्रह्मचारी थे। किन्तु राखालराज के स्त्री-पुत्र रहने पर भी श्रीराम-

कृष्ण ने कहा था, "राखाल ने अब समझा है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। उसके स्त्री है, पुत्र भी हुआ है; किन्तु उसने समझ लिया है कि सब मिथ्या है, अनित्य है। वह संसार में फिर से नहीं लौटेगा।"

वही हुआ भी। पिता का ऐश्वर्य, रूपयौवनशालिनी भार्या, सुकुमार बालक, ये जो संसार के मोहक आकर्षण थे, उन सबको तृणवत् त्यागकर व्रज के प्रेमिक राखाल ने विश्वप्रेम में आत्मोत्सर्ग किया। श्रीरामकृष्ण के इस सर्वत्यागी मानसपुत्र की बात याद आते ही आप ही आप जगत्पूज्य बुद्धदेव की स्मृति मानस में स्फुरित होती है। श्रीरामकृष्ण के शरीर-त्याग के बाद पुत्र को घर वापस ले जाने के लिए आनन्दमोहन के बारम्बार चेष्टा करने पर राखालराज ने कहा था, "क्यों आप लोग कष्ट करके आते हैं? मैं अच्छा ही हूँ। अब आशीर्वाद दीजिए कि आप लोग मुझे भूल जायँ, और मैं आप लोगों को भूल जाऊँ।"

सन् १८८६ ई० में जीवन के आराध्यदेवता को खोकर राखालराज का हृदय अत्यन्त व्याकुल हो उठा। शून्य हृदय ले वे फिर वृन्दावन चले गये। वहाँ कुछ माह बिताकर जब वे वापस आये, तब तक बराहनगर में श्रीरामकृष्ण मठ प्रतिष्ठित हो चुका था। किन्तु मठ में आते-जाते उनका मन निर्जन नर्मदा तीर में अकेला तपस्या करने के लिए व्याकुल हो उठा। राखालराज फिर से बाहर चले गये। इसी समय से कठोर तपस्या प्रारम्भ हुई। समय-स्रोत निःशब्द बहा जा रहा है;

एकनिष्ठ तपस्वी ध्यान में मग्न हैं। दिन आ रहा है, रात बीती जा रही है; ऋतु के परिवर्तन से पृथ्वी कभी कुसुमित यौवन में हँस रही है, कभी वह अश्रुधारा से प्लावित हुई जा रही है और कभी तुषारधवल वैधव्य परिधान से शोभित हो रही है। किन्तु हमारे तरुण संन्यासी की उधर दृष्टि ही नहीं है। निरन्तर जप-ध्यान-तपस्या में जीवन बिता रहे हैं। कभी मधुकरी करते हैं, तो कभी आकाशवृत्ति का अवलम्बन करते हैं। कुछ मिला तो खा लिया, नहीं तो फाँकेमस्त। कभी वृन्दावन, कभी हरिद्वार, कभी ज्वालामुखी। इस तरह अद्‌भुत तपस्या में वर्ष के बाद वर्ष बीतने लगे। इसी समय आबू पहाड़ में अचानक उनके साथ स्वामी विवेकानन्दजी की भेंट हुई। हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) उस समय उनके साथ रहते थे। उनके साथ भेंट होने के कुछ समय बाद ही सन् १८९३ ई० में स्वामीजी श्रीरामकृष्ण के धर्म-समन्वय का सन्देश ले शिकागो धर्म-महासभा में गये और इधर राखालराज तपस्या में मग्न रहे।

इसके बाद सन् १८९७ ई० में अमेरिका से वापस लौटने पर स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। महाराज उसका परिचालन करने लगे। बाद में सन् १८९९ ई. में स्वामीजी द्वारा बेलुड़ मठ प्रतिष्ठित हुआ। महाराज कार्यकारिणी सभा के अध्यक्ष हुए। श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, "राखाल एक राज्य चला सकता है।" स्वामीजी ने मठ का सम्पूर्ण भार महाराज

पर सौंपकर कहा, "राखाल ! आज से यह सब तेरा है, मैं कुछ भी नहीं हूँ।" महाराज पर स्वामीजी का अटूट विश्वास था। महाराज भी स्वामीजी को बहुत ज्यादा प्यार करते थे। स्वामीजी कहते थे, "भले ही मेरे सभी गुरुभाई मुझे छोड़ दें, पर राखाल और हरिभाई मुझे कभी नहीं छोड़ेंगे।" अन्यान्य गुरुभाई भी महाराज को किस श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और प्यार करते थे यह तो वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने वह सब अपनी आँखों से देखा है।

इधर स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण देव के धर्म-समन्वय के सन्देश का जगत् में प्रचार किया। उनकी उस आशा-पूर्ण वाणी को सुनकर भगवत्-निष्ठ भक्तगण श्रीरामकृष्ण मठ में सहयोग देने के लिए उत्साहित हुए। दूसरी ओर महाराज उन सब भक्तों को ले नीरव में शान्तभाव से श्रीरामकृष्ण संघ का गठन करने लगे. उनके अनन्त स्नेह एवं प्रेम से, अपूर्व कर्म-कुशलता और आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से श्रीरामकृष्ण संघ शशिकला के समान दिन-प्रतिदिन वर्धित हो भारत और विदेशों में फैलने लगा।

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "फूल के खिलने पर भ्रमर आप ही आप खिंच आते हैं।" स्वामी ब्रह्मानन्द के जीवन में अपूर्व गुरुभाव का विकास दिखायी देने लगा। गुरुभाव के विकसित शतदल पद्म के पुण्य सौरभ से शत शत साधु-भक्त उनके चारों ओर आकर इकट्ठा होने लगे। महाराज एक दृष्टि में ही अधिकारी व्यक्ति को

पहचान लेते और किसी में बुद्धिभेद उत्पन्न न कर उसके भाव के अनुरूप ही शिक्षा और उपदेश प्रदान करते। जिसमें प्रबल कर्मानुराग रहता उसे निष्काम कर्म में, जिसमें शास्त्रानुराग रहता उसे शास्त्राध्ययन में, और जिसका जप-ध्यान या पूजा-अर्चना में अनुराग रहता उसे उसी में उत्साहित कर वे उसे लक्ष्य की ओर अग्रसर करा देते थे।

श्रीरामकृष्ण का संकेत था--'नरेन्द्र और राखाल का जन्म लोकशिक्षा के लिए हुआ है।' श्रीगुरु के निर्देश से 'लोकहिताय' राखालचन्द्र का हृदय छलक उठा। वे कभी हरिद्वार, कभी वाराणसी, कभी वृन्दावन, कभी मद्रास, इलाहाबाद, ढाका इत्यादि श्रीरामकृष्ण संघ के प्रधान प्रधान केन्द्रों में परिभ्रमण कर लोककल्याण-साधन करने लगे। जब जहाँ जाते, लोगों की भीड़ लग जाती। आनन्दघनमूर्ति ब्रह्मानन्द के आगमन से तम और जड़भाव दूर हो जाते और वहाँ आनन्द और चैतन्य भर-भर से जाते। वे जहाँ रहते, लोगों को आनन्द-स्रोत में डुबोकर उनके प्राणों को विभोर कर देते। जिन लोगों ने महाराज को बेलुड़, हरिद्वार, मद्रास इत्यादि स्थानों में महासमारोह से दुर्गापूजा का अनुष्ठान करते या रामनाम और काली-कीर्तन में भाग लेते हुए देखा है, उन्होंने चिरकाल के लिए उस पुण्यमय आनन्द-स्मृति को हृदय के गम्भीरतम प्रदेश में सँजोकर रखा है। साधु-भक्त, पापी-तापी सभी लोग इस आनन्दमय पुरुष का संग प्राप्त कर नये भाव में, नये उत्साह से संजीवित हो उठते थे।

जो लोग एक बार आते, वे राखालराज के पवित्र प्रेम और निःस्वार्थ प्यार में अपने को भूल जाते थे। जो विश्वप्रेम राखालराज ने श्रीरामकृष्ण से उत्तराधिकार में पाया था, जो प्रेम व्रज का मूलधन है, व्रज के राखाल ने आचाण्डाल सभी को उस प्रेम का भागी बनाया है !

सन् १९१८ ई० में ब्रह्मानन्द महाराज ने भुवनेश्वर मठ की प्रतिष्ठा की। इस शिवक्षेत्र गुप्त-वाराणसी में मठ-स्थापना का उद्देश्य था——संन्यासी-ब्रह्मचारीगण साधन-भजन करें। वे कहते, "लड़के लोग साधन-भजन करेंगे, मैं देखकर आनन्दित होऊँगा।" उनका मन सदा इस बात को लेकर व्याकुल रहता कि कैसे सब लोग साधना की अतल गहराई में डूबकर आध्यात्मिक तत्त्व के माधुर्य-मय रसास्वादन में सक्षम हो जायँ। महाराज को देखने पर मालूम पडता था कि वे सर्वदा ही भावराज्य में विच-रण कर रहे हैं——हँस रहे हैं, खेल रहे हैं, बात कर रहे हैं, कर्म कर रहे हैं, किन्तु मन सदा ही अन्तर्मुखी, निर्वि-कार और आसक्तिशून्य है; दृष्टि मानो शून्य में बँधी है, मानो पक्षी अपना अंडा से रही हो। श्रीरामकृष्ण देव कहते, "अद्वैत ज्ञान को आँचल में बाँधकर जो इच्छा हो करो।" इस वाणी का यथार्थ तात्पर्य महाराज को देखने से स्पष्ट रूप से अनुभव होता था। मठ-मिशन के कार्य में निरन्तर संलग्न रहने पर भी स्वामी ब्रह्मानन्द अहर्निश ब्रह्मानन्द में डूबे रहते थे।

लगभग पचीस वर्ष तक मठ और मिशन का परि-

चालन करते करते शुक्रवार, २४ मार्च १९२२ को स्वामी ब्रह्मानन्द अचानक विषूचिका रोग से ग्रस्त हो गये। स्थिर, धीर शान्तभाव से आठ दिन रोगयंत्रणा भोगने के बाद बहुमूत्र रोग का सूत्रपात हुआ। इस समय वे कलकत्ता के 'बलराम मन्दिर' में निवास कर रहे थे। डाक्टरों एवं वैद्यों ने उनके जीवन की आशा त्याग दी। ८ अप्रैल, शनिवार को रात में एकत्रित साधु-ब्रह्मचारियों एवं भक्तों को स्नेह से पास बुलाकर उन्होंने एक एक करके सबको आशीर्वाद दिया। उन लोगों के मुख पर निराशा का भाव देख उन्होंने कहा, "घबड़ाना मत। ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है।" उसके बाद गुरुभाइयों से विदा लेते लेते उनका मन सहसा एक अनजान राज्य में दौड़ गया; कहने लगे, "रामकृष्ण का कृष्ण चाहिए। ॐ विष्णु, ॐ विष्णु, ॐ विष्णु! कृष्ण! आये हो? हमारे ये कृष्ण—कष्ट के कृष्ण नहीं, ये गोपों के कृष्ण हैं—कमल के कृष्ण हैं!"

श्रीरामकृष्ण ने किसी समय कहा था, "गंगा के ऊपर एक प्रस्फुटित पद्म देखा—उस पर बालगोपाल-मूर्ति अपने सखा राखाल* का हाथ पकड़कर नृत्य कर रही है।"

श्रीरामकृष्ण की भविष्यवाणी थी, "व्रज के राखाल का जीवनावसान व्रज की भावानुभूति में होगा।" ब्रह्मानन्द के गुरुभाइयों ने समझ लिया कि समय अति निकट है।

कुछ क्षण बाद राखालराज फिर से कहने लगे, "मैं व्रज का राखाल हूँ, मुझे घुँघरू पहना दो, मैं कृष्ण का

---

* बँगला में 'राखाल' शब्द का अर्थ 'गोप' होता है।

हाथ पकड़कर नाचूँगा।" दर्शन चलता ही रहा। पुनः कहने लगे, "इस बार का खेल समाप्त हो गया ! कृष्ण, कृष्ण ! अहा, तुम लोगों की आँखें नहीं हैं; देख नहीं रहे हो मेरे कमल के कृष्ण को, पीताम्बरधारी कृष्ण को! ... ब्रह्मसमुद्र में विश्वास के वट-पत्र पर बहे जा रहा हूँ।... अहा ! उसके दोनों चरण कितने सुन्दर हैं। देखो देखो ! एक सुकुमार बालक मेरे शरीर पर हाथ फेर रहा है--कह रहा है, आओ !"

दूसरे ही क्षण ब्रह्मानन्द गहरे ध्यान में निमग्न हो गये। ध्यान में ही दूसरा दिन भी बीत गया। अगले दिन सोमवार, १० अप्रैल की रात को आठ बजकर पैंतालीस मिनट पर वह ध्यान महाध्यान, महासमाधि में लीन हो गया। दूसरे दिन नन्दनपारिजात चन्दन का लेप कर बेलुड़ मठ में गंगातीर पर उनकी पूत देह अग्नि को समर्पित कर दी गयी।

साधु या साधक-जीवन की पुण्य गाथा सदा के लिए हमारी आँखों से ओझल ही रहती है। इसीलिए उस इतिहास को सर्वांगसुन्दर रूप से लिपिबद्ध करना असम्भव है। पर भले ही हम यह न जानें कि रसीला फल किस प्रकार परिपक्व होता है, उसके रसास्वादन में कोई बाधा नहीं होती। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "इतना हिसाब करके क्या लाभ ? तुम आम खाओ !"

प्रश्न—— कर्मयोग की शिक्षा इस बात पर बल देती है कि सब कुछ को ईश्वर की इच्छा मानकर चला जाय। इस दर्शन से क्या कर्तृत्व-शक्ति का ह्रास नहीं होता ?

——पी. एस. काणे, नागपुर

उत्तर——नहीं, कर्मयोग की शिक्षा से कर्तृत्व-शक्ति का ह्रास नहीं होता। कर्मयोग मनुष्य को अपनी पूरी शक्ति के साथ कर्म करने को कहता है, पर फल को भगवान् को सौंप देना सिखाता है। गीता के दूसरे अध्याय का सैंतालीसवाँ श्लोक कर्मयोग की समुचित व्याख्या करता है। वह कहता है——'मनुष्य का अधिकार कर्म करने में ही है, फल में उसका कोई अधिकार नहीं है। मनुष्य को कर्मफल का कारण नहीं बनना चाहिए, न ही उसे अकर्म का दामन पकड़ना चाहिए।' इसका व्यावहारिक तात्पर्य यह है कि मनुष्य जब किसी कार्य को हाथ में ले, तो उसे पूर्ण करने के लिए भरसक प्रयत्न करे। फल यदि अनुकूल न दिखे तो भी प्रयत्न में कोई कमी न हो। और अन्ततोगत्वा यदि अनुकूल फल नहीं ही मिला, तो उसमें वह ईश्वर की इच्छा देखे। कम करने में पूरा अधिकार अपना माने और फल देने का अधिकार भगवान् का माने, यह कर्मयोग का सूत्र है। यहाँ यह स्मरणीय है कि कर्म के अपने अटल न्याय से उसका फल प्राप्त होता ही है।

✤